आर्य्य समाज किस ओर ?

लेखक—

श्री वसिष्ठ ज

प्रस्तावना लेखक—

श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार

प्रकाशक—

सरस्वती-सदन

मसूरी (संयुक्तप्रान्त)

प्रथमावृत्ति। } दिसम्बर १९३५ ई० { मूल्य एक रुपया।

प्रकाशक-
द्वारिकाप्रसाद सेवक,
संचालक
सरस्वती-सदन,
मसूरी,
(संयुक्त प्रान्त)

मुद्रक-
पृथ्वीराज मिश्र बी० ए०,
मसूरी प्रिंटिंग हाउस,
मसूरी।

अनुक्रमणिका

कुल पृष्ठ संख्या २६०

क्षमा याचना—

हमें हार्दिक दुःख है कि उन कारणों और परिस्थितियों से विवश होकर जो हमारी अधिकार सीमा से बाहर थीं इस पुस्तक की छपाई, और संशोधन आदि हमारी इच्छा तथा सन्तोष के अनुसार नहीं हो सका और कई बड़ी ही भद्दी भूलें रह गई। इस कमी को भविष्य में कदापि नहीं रहने दिया जायगा। अभी तो सहृदय पाठक हमें उदारता पूर्वक क्षमा प्रदान करें। सेवक

द्रष्टव्य

मूल समस्त पुस्तक छप चुकने के पश्चात इसका नाम "आर्य्य समाज किस ओर?" रखना अधिक उचित प्रतीत हुआ। एतदर्थ पाठक किसी प्रकार के भ्रम में न पड़ें।

——प्रकाशक

प्रकाशक के दो शब्द

अपने को आर्य्य एवं आर्य्य समाजी कहने वालों के लिये आर्य समाज की आलोचना करना कुछ रुचिकर कार्य नहीं है, किन्तु कर्त्तव्य का स्थान व्यक्तिगत रुचि, आकांक्षा और इच्छा से ऊपर है। कर्त्तव्य पालन के लिये रुचि के प्रतिकूल कभी कभी कठोर काम भी करना पड़ जाता है। हमारे लिये इस पुस्तिका का प्रकाशित करना ऐसा ही काम है। हम आर्य्य समाज के अनुयायी हैं, ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं और वैदिक धर्म्म के दीवाने हैं। इसी लिये आर्य्य समाज की अकर्मण्यता और उसका प्रगतिशील न रहना हमारे लिये असह्य है। हमारी यह उत्कट इच्छा थी कि हम इस सम्बन्ध में आर्य्य समाज के कुछ विचारशील नेताओं, विद्वानों और कार्य कर्त्ताओं के विचार संग्रह कर के इसी पुस्तिका के साथ प्रकाशित करते; किन्तु वैसा करने का हमारे पास समय नहीं था और सामने ऐसी कुछ सामग्री आये बिना वैसा विचार-विनिमय होना भी सम्भव नहीं था। आशा है कि इस पुस्तिका द्वारा ऐसी सामग्री आर्य्य जनता के सामने उपस्थित हो जायगी, विचार-विनिमय के कार्य्य का मार्ग कुछ सरल होजायगा और इसके दूसरे संस्करण अथवा इस माला की दूसरी पुस्तकों में हम उन सब विचारों का संग्रह आर्य्य जनता के सम्मुख उपस्थित कर सकेंगे।

आर्य्य समाज के सिद्धान्त अटल हैं। उसका मिशन फलने फूलने वाला है। महर्षि की तपस्या व्यर्थ नहीं जा सकती। धर्म्मवीर

पण्डित लेखराम जी और स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान निरर्थक नहीं हो सकता। फिर भी कार्य्य क्रम की रूप-रेखा, हमारे आचार-विचार की गति-विधि और हमारी संस्थाओं का रूप रंग सदा एकसा नहीं रह सकता। वह बदलता रहता है और बदलता भी रहना चाहिये। यदि उसमें परिवर्तन होना बन्द हो जाय, तो सिवाय मृत्यु के दूसरा परिणाम नहीं हो सकता। मृत्यु की इस घातक अवस्था से यत्न पूर्वक बचना चाहिये और इसी लिये स्वतन्त्र विचार का क्रम सदा ही बना रहना आवश्यक है। आर्य्य बन्धुओं में स्वतन्त्र विचार की प्रवृति को जगाने के लिये ही हमने इस पुस्तिका को प्रकाशित किया है। हम लेखक महोदय की हर एक बात से सहमत नहीं हैं, उनकी सब समीक्षा हम को स्वीकार नहीं है और उनकी कठोर भाषा हमको पसन्द नहीं है, किन्तु हम चाहते हैं कि हमारी दृष्टि, हमारा प्रचार और हमारा धर्मोपदेश वहिर्मुख न रह कर अन्तर्मुख हो जाय और दूसरों की आलोचना, समीक्षा तथा दोष दर्शन से हाथ खींच कर हम अपनी आलोचना, समीक्षा तथा विवेचना करने में लग जांय। इस पुस्तिका के लेखक महानुभाव ने इस ओर यत्न किया है और उनका यह यत्न हम सब में समा जाय,—केवल इसी आकांक्षा से हम इस पुस्तिका को प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है कि आर्य्य भाई हमारी इस सेवा को इसी रूप में स्वीकार करेंगे।

श्री पं० सत्य देव जी विद्यालङ्कार ने हमारे आग्रहको स्वीकार करके इस पुस्तिका की पाण्डु लिपि का अवलोकन करके इसके सम्पादन करने और इसकी मार्मिक प्रस्तावना लिख देने का जो कष्ट उठाया है, उसके

लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। श्री सत्य देव जी गुरुकुल काङ्गड़ी के उन सुयोग्य और कर्मशील स्नातकों में से हैं जिन्होंने सपत्नीक अपने को देश सेवा पर न्योछावर कर दिया है। आप कट्टर राष्ट्रवादी हैं। धर्म के सम्बन्ध में भी आप राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने के पक्षपाती हैं। गुरुकुल से स्नातक होने के बाद से आज तक आपने अपने को एकनिष्ठ होकर पूरी तन्मयता के साथ राष्ट्रीय सेवामें लगाये रखा है और अपने सार्वजनिक जीवन का अधिक समय जेलों की चहार दीवारी में ही बिताया है। फिर भी आपने आर्य्य समाज को नहीं भुलाया है। आप के लिखे हुये 'दयानन्द दर्शन" और "स्वामी श्रद्धानन्द" ग्रन्थ इसकी साक्षी हैं। "दयानन्द दर्शन' की भूमिका में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने उसको दयानन्द-जन्म-शताब्दी की लाभदायक और आवश्यक भेंट बताते हुये लिखा था कि "मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थ को भारतवर्ष के राजनैतिक नेता तथा आर्य्य सामाजिक पुरुष मनन करने के उद्देश्य से पढ़ें"। 'स्वामी श्रद्धानन्द' हिन्दी के जीवनी साहित्य में एक अपूर्व ग्रन्थ है—यह प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। उनकी इसी सेवा से प्रभावित होकर हमने उनसे इस पुस्तिका की प्रस्तावना लिखने और इसके सम्पादन करने का आग्रह किया था। उनकी प्रस्तावना एक स्वतन्त्र पुस्तक का ऐसा उपयोगी विषय है, जिस पर आर्य्य भाईयों को खूब गहरा विचार करना चाहिये। उन्होंने आर्य्य समाज के जिस नैतिक-पतन की ओर सजीव भाषा में संकेत किया है, उसकी ओर विना विलम्ब हम को ध्यान देना चाहिये।

हमारी यह महत्वाकांक्षा है कि हम आर्य जीवन में भयंकर उथल पुथल मचा दें। महर्षि दयानन्द ने चहुमुखी क्रान्ति का जो सुदर्शन

चक्र घुमाया था, वह अव्याहतगति से वैसा ही घूमता रहे। हमारी अकर्मण्यता का सर्व नाश हो जाय। बिजली से चलने वाली मशीन की तरह हम सदा ही गति शील बने रहें। प्रकाश की किरण, हवा की गति और शब्द की लहर का वेग हमारे हृदयों में समा जाय। इसी लिये स्वतन्त्र विचारों के, आत्म-सुधार के इस क्रम को हमने "**आर्य्य-जीवन-माला**" के नाम से प्रकाशित करने का निश्चय किया है। हमारे उद्योग की सफलता आर्य्य भाईयों के सक्रिय सहयोग पर ही निर्भर करती है। सक्रिय सहयोग से हमारा अभिप्राय यह है कि आर्य्य जीवन प्रकाश का पुञ्ज बन जाय, आर्य्य परिवार में ठोस जीवन की अमिट ज्योति जगमगाने लग जाय और आर्य्य समाज की भट्टी में क्रान्ति की वह मांगलिक प्रचण्ड अग्नि सदा सुलगती रहे, जिसका दर्शन कर अमेरिका का तत्वदर्शी डेविस संसार में सर्वत्र सुख, शान्ति और सन्तोष का साम्राज्य छा जाने की कल्पना किया करता था। आर्य्य भाईयों की इसी सक्रिय सहयाग की पूञ्जी के भरोसे अपनी महत्वाकांक्षा के साहित्यक यज्ञ के अनुष्ठान करने का हम एक बार फिर उद्योग कर रहे हैं। पूर्ण आशा है कि हम उसमें सफल होंगे।

सर्व नियन्ता प्रभू की हम पर अपार कृपा हो और भगवान दयानन्द का हमको शुभ आशीर्वाद प्राप्त हो, जिस से हम सब अपने कर्त्तव्य कर्म में लीन हो अपने इस आर्य्य जीवन को सफल और सार्थक बना सकें।

सरस्वती—सदन,
मसूरी।
श्री श्रद्धानन्द बलिदान दिवस
२३ दिसम्बर ३५

वैदिक धर्मियों का दास—
द्वारिका प्रसाद सेवक,

प्रस्तावना

त्रिकालदर्शी ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज को प्रकाश-स्तम्भ के रूप में तब स्थापित किया था, जब देश सदियों की सामाजिक जड़ता तथा धार्मिक मूढ़ता का शिकार हो राज-नीतिक स्वतन्त्रता से भी हाथ धो चुका था। सन् १८५७ में स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये किये गये उद्योग में देशवासियों के विफल होने के बाद देश को पराधीनता की बेड़ियों में बुरी तरह जकड़ा जा रहा था। विदेशी विजेताओं ने इस देश को इसी के धन-जन की अपार शक्ति से स्वायत्त किया था और अपने शासन को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये यहाँ की ही धन-जन की शक्ति को वे काम में लाना चाहते थे। लार्ड क्लाइव पहिली श्रेणी के लोगों के अगुआ थे और लार्ड मैकाले दूसरी श्रेणी के लोगों के अग्रणी। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना का श्रेय क्लाइव को है और उसको सुदृढ़ बनाने का श्रेय है मैकाले को। मैकाले के समकालीन शासकों के उद्योग से जिस अंग्रेजी-शिक्षा का श्रीगणेश इस देश में किया गया था, उसका उद्देश्य स्पष्ट करते हुये लार्ड मैकाले ने लिखा था कि

"We must do our best to form a class, who may be interpreters between us and the millions whom we govern; a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, words and intellect. अर्थात् "हमको अपनी सब शक्ति लगा कर अवश्य ही ऐसा उद्योग करना चाहिये, जिससे इस देश में एक ऐसी जमात पैदा हो जाय, जो हमारे और उन करोड़ों के बीच मध्यस्थ का काम करे, जिन पर हम शासन कर रहे हैं। उस जमात का हाड़-मांस और रुधिर भले ही हिन्दुस्तानी रहे, किन्तु आचार, विचार रहन-सहन तथा दिल-दिमाग बिलकुल अंग्रेजों का सा हो जाय।" ये पंक्तियां लार्ड मैकाले के उस सुप्रसिद्ध लेख में से ली गई हैं, जो उसने लगभग १८३५ में भारतीय दीक्षा-शिक्षा. साहित्य, संस्कृति आदि की निन्दा करते हुए और संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा की तुलना में अंग्रेजी की शिक्षा को प्रतिष्ठित बताते हुए लिखा था। वह लेख लार्ड मैकाले की दूरदर्शिता तथा कूटनीति का द्योतक है। भारतीयों में अपनी संस्कृति, साहित्य, इतिहास, कला तथा विज्ञान के प्रति लेशमात्र भी आकर्षण न रहे और दूर भविष्य में भी उनमें स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान की भावना का जागना संभव न रहे,—इस दूरदर्शितापूर्ण कूटनीति से वह लेख लिखा गया था। लार्ड मैकाले से पहिले तो इस देश में आने वाले अंग्रेज इस देश की

उन्नत सभ्यता, वैदिक साहित्य, प्राचीन इतिहास, प्राकृतिक वैभव और लौकिक ऐश्वर्य पर लट्टू थे। वे उसकी प्रशंसा के गीत गाते हुए कभी थकते नहीं थे। उनके लेख और ग्रन्थ भारत की प्रशंसा से भरे हुए हैं। लार्ड मैकाले सरीखे कूट-राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि उनकी उस प्रशंसा से भारतीयों में स्वाभिमान की भावना जाग उठेगी। इस लिये उन्होंने भारत के धर्म, इतिहास, साहित्य, संस्कृति, कला और विज्ञान आदि सभी की निन्दा करनी शुरू की। भारतीयों को अशिक्षित, असभ्य, जंगली आदि बताना शुरू किया। वेदों को वे जंगलियों तथा गड़रियों के गीत कहने लगे। वैदिक साहित्य का मजाक उड़ाने लगे। इतिहास को कपोल-कल्पित बताने लगे। कला तथा विज्ञान की उपेक्षा करने लगे। पुराणों की कथा कहानियों को लेकर धर्म की खिल्ली उड़ाई जाने लगी। सारांश यह है कि सब संसार को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाले भारत को सभी दृष्टियों से सब संसार से पिछड़ा हुआ बताया जाने लगा और उनकी कपोल-कल्पित दीन-हीन अवस्था के अति-रंजित चित्र खींचे जाने लगे। अंग्रेजों की इस बदली हुई मनो-वृत्ति की पूर्ण साक्षी लार्ड मैकाले के उस लेख से मिलती है। कूट-नीतिज्ञ होते हुए भी लार्ड मैकाले ने अपनी आकांक्षाओं को कभी छिपाया नहीं। १८३६ में उसने अपने पिता को एक पत्र लिखा था, जिसमें उसने बताया था कि वह शिक्षा-पद्धति जिसका श्रीगणेश भारतीयों को दोगले अंग्रेज बनाने के लिये

किया गया था, कितना सफल हो रही है ? उसने लिखा था— "No Hindu, who has received an English education ever remains sincerely attached to his religion, some coutinue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure Deists and some embrace christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence." अर्थात् "जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा खो बैठता है। कुछ लोग केवल दिखावे के लिये उसे मानते हैं। अधिकतर एकेश्वरवादी और कुछ ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना का पूरी तरह अनुसरण किया गया, तो अब से तीस वर्ष बाद बंगाल के अच्छे अच्छे घरानों में एक भी हिन्दू मूर्ति-पूजक नहीं रहेगा।" मूर्तिपूजक न रह कर एकेश्वर-वादी बनने से लार्ड मैकाले का यही प्रयोजन था कि अपने धर्म में उनकी आस्था या श्रद्धा नहीं रहेगी। वे ईसाई हो जायेंगे या धर्म-कर्म से विमुख हो अपने आप को ही भूल जायेंगे।

तीस वर्षों में समस्त बङ्गाल को अपने धर्म से विमुख

और श्रद्धा-भक्ति से शून्य बनाने की जिस योजना से लार्ड मैकाले ने भारत में अंग्रेजी दीक्षा-शिक्षा का सूत्रपात किया था, उससे कहीं अधिक व्यापक योजनायें लेकर सारे ही भारत को कुल पच्चीस वर्षों में ईसाई बना देने की विजयी सिकन्दर की-सी महत्वाकांक्षा के साथ ईसाई-पादरी भी इस देश में पदार्पण कर चुके थे। उनके गिरोह के गिरोह इस देश में ऐसे आ रहे थे, जैसे किसी महत्वाकांक्षी सम्राट् की सेनायें किसी देश पर विजय पाने के लिये चढ़ाई कर रही हों। भारत को ईसाई बना देने की लालसा के पीछे सारे यूरोप और सारे अमेरिका के ईसाई राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति काम कर रही थी। यहां के शासक भी उनके साथ थे। इन ईसाइयों ने जिस शिक्षा का सूत्रपात इस देश में किया था उसका उद्देश्य लार्ड मैकाले द्वारा प्रारम्भ की गई शिक्षा से भिन्न नहीं था। लार्ड मैकाले शासक और शासितों के बीच दुभाषिये का काम करने वाले दो-गले अंग्रेजों की एक जमात पैदा करना चाहते थे और ईसाइयों का लक्ष्य भी ईसा की भेड़ों की वैसी ही एक दूसरी जमात पैदा करना था। दोनों द्वारा स्थापित विद्यालयों की फैक्टरियां एक ही सरीखा माल पैदा करना चाहती थीं। भेद केवल 'ट्रेड-मार्क' के नाम का था; काम दोनों का एक ही था।

पश्चिमी लोगों के साम्राज्यवाद की तामस-प्रधान राजसी महत्वाकांक्षा के सम्बन्ध में लिखते हुये किसी लेखक ने बिलकुल ठीक लिखा है कि 'बाईबिल, बियर और बेयोनेट'

या 'वार, वाईन और वीमैन' ये तीन चीजे हैं, जिनको पश्चिम के लोग पूर्व के लोगों पर अपनी शासन-सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिये काम में लाते हैं। भारत मे 'वार' (युद्ध) या 'बेयोनेट' (गोला-बारूद) का काम लार्ड क्लाइव के समय पूरा हो चुका था। उसके बाद बाईबिल, बियर या वाइन और वीमैन का काम शुरू कर दिया गया था। भोग-विलास, अमन-चैन एवं आमोद-प्रमोद में लीन रहने वाले लोग जब अपने आप को भूल जाते हैं, तब यत्न करने पर भी उनका संभलना कठिन हो जाता है। भारतवासियों को इसी भूलभूलैय्यां मे फंसाया जा रहा था और यत्र-तत्र ईसाई-पादरी बगलों में बाईबिल की पोथी लिये घूमा करते थे। दक्षिण में उन्होंने पूरी तय्यारी और पूरे बेग के साथ अपना काम शुरू कर दिया था। जिस ढंग से बाईबिल का प्रचार प्रारम्भ किया गया था, उससे ऐसा मालूम होता था, जैसे पश्चिम के सभी ईसाई राष्ट्रों ने मिलकर भारत के विरुद्ध कोई गहरा षड़यन्त्र रचा था।

पश्चिम से उठी हुई इस भयानक आंधी के पीछे होने वाली मेघ-गर्जना से स्वनामधन्य राजा राममोहनराय ने भावी संकट की कुछ कल्पना कर ली थी। उन्होंने भांप लिया था कि धर्म का लबादा ओढ़ी हुई ईसाय्यत की वह लहर 'विषकुम्भं पयो मुखम्' के समान थी। वे समझ गये थे कि पश्चिमीय सभ्यता का वह नाग भारत की संस्कृति को निगल जाने के लिये मुंह फैलाये दौड़ा चला आ रहा है। हिन्दुओं की साम्प्र-

दायिकता की भावना और उदारचेता-वृत्ति ने उस ब्राह्म-समाज का इतना निस्तेज बना दिया कि राजा राममोहनराय के स्वर्गवास के बाद श्रीयुत केशवचन्द्र सेन महोदय के समय में ही उसके पतन का क्रम शुरू हो गया। ईसाइयत की जिस लहर का मुकाबला करने के लिये ब्राह्म-समाज की स्थापना की गई थी, उसका जैसा चाहिये था, वैसा मुकाबिला वह नहीं कर सकी; अपितु ईसाइयत की लहर ने ही अपना रंग उस पर चढ़ा दिया। यही अवस्था प्रार्थना-समाज की हुई। मद्रास, बंगाल और बनारस आदि के विद्वानों की विद्वत्ता भी उसके वेग को न थाम सकी। पानी की वेगवती धारा की तरह वह लहर चारों ओर बढ़ती चली गई। ईसाई पादरियों और मैकाले-सदृश शासकों की आकांक्षा की स्वप्न-सृष्टि की कल्पनायें फलने फूलने लगीं।

भारत के लिये वह अत्यन्त भयंकर संकट का समय था। उसकी सभ्यता और साहित्य मरणासन्न थे। उसकी कला और विज्ञान पर वज्रपात होने को था। उसको चारों ओर से पराधीनता के पाशों में जकड़ा जा रहा था। उसके स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान की भावना को जगाने वाली दैवीय सम्पदा की होली हो रही थी। उसके धर्म और उसकी अध्यात्मिकता की चिता चुनी जा रही थी। निराशापूर्ण भविष्य की घनघोर घटायें गगन-मण्डल में छा रहीं थीं। भयानक संकट और घोर निराशा के इस काल में ऋषि दया-

नन्द ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था और अपने पीछे अपने कार्य की गति को अव्याहत बनाये रखने के लिये आर्यसमाज को स्थापित किया था।

ऋषि दयानन्द की ऊंची भावना और महान् कल्पना को, उनके बहुमुखी विस्तृत कार्य की विशाल महत्वाकांक्षा को और आर्यसमाज को सौंप गये उनके 'मिशन' की महानता को जानने के लिये, इस समय के आर्यसमाजियों के अध-कचरे समाजीपन से उनके सम्बन्ध में पैदा हुई भ्रान्त-धारणा, पक्षपात तथा मिथ्या कल्पना को दूर कर के और आर्यसमाज की नैतिकता-शून्य तथा वास्तविकता-रहित गति-विधि के प्रभाव से रहित होकर स्वतन्त्र दृष्टि से उनके ग्रन्थों, लेखों तथा जीवनी का गहरा अध्ययन करना चाहिये। इस एक लेख में उस सब को अभिव्यक्त करने का यत्न करना सागर को गागर में भरने के समान संभव नहीं है। ऋषि दया-नन्द को समझने का पूर्ण उद्योग न करके उनके सम्बन्ध में साधारण तौर पर यह कह दिया जाता है कि वे बाल ब्रह्मचारी थे. धार्मिक महापुरुष थे और सामाजिक सुधारक थे।इसी प्रकार उन के कार्य के सम्बन्ध में कह दिया जाता है कि उन्होंने हिन्दू जाति को जागृत किया है। त्रिकालदर्शी ऋषि का यह बहुत साधा-रण और अपूर्ण वर्णन है। छाया से जैसे वास्तविकता का पता नहीं लग सकता, वैसे ही इस वर्णन से उनके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। शताब्दियों के बाद देश, जाति

अथवा राष्ट्र का कायापलट करने को, भगवान् कृष्ण के शब्दों में जगत् के उद्धार के लिये अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करने को, जो महापुरुष प्रगट हुआ करते हैं, उनमें महर्षि दयानन्द एक थे। स्वर्गीय राजा राममोहनराय से लेकर आज तक जितने भी महापुरुष हुये हैं और जिन्होंने भी इस अभागे देश की गरीब तथा पराधीन जनता की सेवा में तन-मन-धन लगाया है, हमारे लिये वे सभी बंदनीय है, उन सभी के चरणों में हमारा सीस श्रद्धा-भक्ति के साथ झुक जाता है और किसी को छोटा या बड़ा बताना हमारी दृष्टि में भयानक अपराध है। फिर भी हम यह कहने के लिये विवश हैं कि उस समय से इस समय तक के समय को महर्षि दयानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के नाम से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस रामायण का बालकाण्ड या महाभारत का आदि-पर्व महर्षि-काल था, किष्किन्धा-काण्ड अथवा उद्योग-पर्व लोकमान्य-काल था और लंका-काण्ड अथवा भीष्म-पर्व महात्मा-काल है। महर्षि अपने महान् जीवन और विशाल कार्य से लोकमान्य और महात्मा जी जैसे महान् पुरुषों की श्रेणी में पहिले स्थान पर स्वयं ही जा विराजे हैं। भारत के इस समय के इतिहास को निष्पक्ष दृष्टि से लिखने वालों को महर्षि के इस अधिकार और दावे को निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा। श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' में बिलकुल ठीक लिखा है कि "अमृत की खोज में

जंगल, पहाड़ और नदियों के स्रोतों को खोज डालना और अपनी आयु का बड़ा हिस्सा घोर तपस्या में बिताना उनके जीवन को श्रीराम के बनवास से भी बढ़ कर बना देता है। आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मान कर हमेशा लोक सेवा के मैदान में डटे रहना कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश करते हुये श्रीकृष्ण महाराज को आंखों के सामने जा खड़ा करता है। भगिनी और चाचा की मृत्यु से प्रभावित होकर घर से विवाह की तय्यारियों व समारोहों में से भाग निकलना और अपने जीवन को ब्रह्म-समाधिमें लगा कर मृत्युंजय पद को पाने के लिये अमृत की खोज करना भगवान् बुद्ध की बोधि-वृक्ष के नीचे की समाधि को सहसा याद दिलाता है। दीन, दुःखियों, अपाहजों और अनाथों के लिये आंसू बहाते हुये महर्षि क्राइस्ट जान पड़ते हैं। शास्त्रार्थ की वेदी पर खड़े हुये और धुंआदार भाषण करते हुये आचार्य शंकर दीख पड़ते हैं। एकेश्वरवाद और वैदिक-सार्वभौम-भ्रातृभाव का उपदेश करते हुये मुहम्मद साहब प्रतीत होते हैं। भक्ति और ध्यान में मग्न उनमें सन्तवर रामदास, कबीर, दादू, चेतन, तुकाराम आदि सभी भक्तों की प्रतीती होने लगती है। देश की दुर्दशा से सन्तप्त हुये जब वे राजनीति का उपदेश करते हुये स्वराज्य व चक्रवर्ती राज्य की चर्चा करते हैं और अपने देसी नरेशों व रईसों के पतन व अवनति से सन्तप्त हुये वे उनके सुधार की चेष्टा करते हैं, तब आर्य्यवर्त के संरक्षक, आर्य संस्कृति के उद्दीपक और

आश्चर्यत्व के पालक वे प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह और श्री क्षत्रपति शिवाजी महाराज मालूम होते हैं। एक बार उनसे एक कलेक्टर ने उनका भाषण सुनने के बाद स्पष्ट ही कहा था 'यदि आप के भाषण पर लोग चलने लग जांय, तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमें अपना बंधना बोरिया बांधना पड़ेगा।" उसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४८१ में फिर आप लिखते हैं कि "वे जाति और देश की उन्नति के विषयों पर ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण किया करते थे। उनके भाषणों को सुन कर श्रोताओं में ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय उछलने लगता था, अङ्ग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने लग जाता था, परन्तु किसी मनुष्य या जाति-विशेष के लिये मनमें घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदार नीतिभत्ता और राष्ट्र सुधार के विचार सिद्धान्त-रूप में प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भाव को लिये होते थे और सब पर घट जाते थे। महाराज ने स्वराज्य और स्वायत्त शासन के सार-मर्म के कुछ सूत्र और अति स्पष्ट सूत्र 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उस समय लिखे थे, जब यहां जातीय-महासभा (कांग्रेस) का जात कर्म भी न हुआ था, शासन-सुधार-वादियों ने 'स्वराज्य' शब्द का अभी स्वप्न भी नहीं देखा था। महाराज के समय, भारतीयों की राष्ट्र नीति अभी नवजात बालिका थी, दुधमुंही बच्ची थी, पालने में पड़ी अंगूठा चूसा करती थी।

राष्ट्र-जागृति और जातीय-जीवन के ऐसे बाल-काल में श्री स्वामी जी का बलाढ्य शब्दों में, ओज और ऊष्मा पूर्ण भाषा में, स्वायत्त शासन का समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना इस बात का उज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्रनीति सम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगति को पाये हुये थे; परम और चरम लक्ष को परिलक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदय में भारत की प्रजा का हित कूट कूट कर भरा हुआ था। उनके अन्त:करण में, मस्तक में, अस्थिमें, मज्जा में, एक-एक रक्त-बिन्दू और नाड़ी-नस में भारत के कल्याण की निष्कलंक कामना उत्कृष्ट उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी। समय आयगा, जब भारत की भावी सन्तति, अपने जातीय मन्दिरों में स्वायत्त शासन की देवी का पूजन करने से पूर्व, उसे पहिले-पहिल आहूत करने वाले देव-स्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।"

देश, जाति अथवा राष्ट्र का कायापलट करने वाला ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका विशद वर्णन ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। उन में उन्होंने धर्म-नीति समाज-नीति, अर्थ-नीति और राज-नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों का स्पष्ट, सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया है। उनका वेदभाष्य भी उस विवेचन से रहित नहीं है। उनकी सुदृढ़ स्वदेश-भक्ति, उत्कृष्ट राष्ट्रीय-भावना, भारत के लिये स्वराज्य-साम्राज्य एवं चक्रवर्ती राज्य की स्पष्ट कामना, राजनी-

तिक सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा, स्वदेशी का उपदेश, गोरक्षा का आदेश, हिन्दी को अपनाने का आदर्श, राष्ट्र के ब्रह्मचर्य की रक्षा एवं निश्शुल्क-बाधित-शिक्षा का प्रतिपादन, 'अप्रियाचरण' के नाम से असहयोग का मानव-धर्म के प्रधान लक्षण के रूप में विधान, समस्त जीवन में एकमात्र 'सत्य' का अवलम्बन कर सत्य के ग्रहण करने और असत्य को त्यागने का नियम स्थिर करके सत्याग्रह की आधार-शिला पर आर्यसमाज को स्थापित करना, छूत-छात एवं जात-पात की जन्मगत व्यवस्था पर कुठाराघात कर गुण-कर्म स्वभाव को चातुर्वर्ण्य का आधार बना कर साम्यवाद की स्थापना करना, धर्म के नाम से प्रचलित धर्मान्धत्ता-पूर्ण रूढ़िवाद तथा परम्परागत समाजवाद एवं पण्डों-पण्डितों, पुजारियों तथा पुरोहितों द्वारा लोकाचार तथा शास्त्राचार के नाम से फैलाये हुये पाखण्डवाद के विरुद्ध विद्रोह करना, देश-जाति एवं राष्ट्र के उत्थान की आशा एवं आकांक्षा से देश के कोने-कोने में भटकना, उसी आशा तथा आकांक्षा से देशी नरेशों को जगाने के यत्न में अपने प्राणों को होम कर देना और इस प्रकार चहुंमुखी क्रांति के सुदर्शन-चक्र को पूरे वेग के साथ घुमाना महर्षि दयानन्द के अलौकिक व्यक्तित्व की महान् विभूति है, जो पराधीन राष्ट्र के पददलित लोगों में आज भी नवजीवन, स्फूर्ति और चैतन्य का संचार कर सकती है। उनका 'सत्यार्थप्रकाश' मनुष्य के व्यक्तिगत और राष्ट्र के समष्टिगत जीवन के पूर्ण अभ्युदय एवं

चरम-विकास के कार्य-क्रम का ऐसा पूरा समय-विभाग है जो प्रकाश-स्तम्भ की तरह सदा ही मार्गदर्शक का काम दे सकता है। मथुरा में मनाये गये ऋषि के जन्म-शताब्दी-महोत्सव के अवसर पर इन्हीं पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखी गई 'दयानन्द-दर्शन' नाम की पुस्तिका की भूमिका में अमर-शहीद दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने बिलकुल ठीक लिखा था कि "ऋषि दयानन्द ने वैदिक-धर्म की व्याख्या करते हुये मानवीय जीवन के किसी भी विषय को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। जिस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक विषयों में ऋषि दयानन्द ने भारत के सब सम्प्रदायों को सीधा मार्ग दिखलाया, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी अपने आप को अनुभवी ऋषि सिद्ध किया। आध्यात्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिन्दुओं, जैनियों, सिक्खों को जगा कर मुसलमानों को भी शर्क के गढ़े में से निकलने के लिये उत्साहित किया। आर्थिक क्षेत्र में आज से पचास वर्ष पूर्व स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार पर बल देकर आर्य पुरुषों के पश्चिम की ओर झुकते हुये भाव को उसी स्थान पर रोक कर स्वदेश के गौरव की ओर निर्देश किया। सामाजिक क्षेत्र में सब कुरीतियों के दोष दिखला कर उत्तम रीति के संस्कार सारी प्रजा पर डाले और राजनैतिक क्षेत्र के सुधार के लिये भी मूल सिद्धान्तों का विशद् रूप से उत्तम शब्दों में वर्णन किया। "—"गत वर्षों के राजनैतिक आन्दोलन ने स्पष्ट कर

दिया है कि राष्ट्रों को स्वतन्त्र होने का जो मार्ग ऋषि दयानन्द बता गये थे, उसी के अवलम्बन से संसार में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।"

ऐसे महान् अद्वितीय और लोकोत्तर महापुरुष के सम्बन्ध में सहसा यह कह दिया जाता है कि वे असहिष्णु थे। उनमें धार्मिक-असहिष्णुता का दोष बताने वालों में ऐसे बहुत कम हैं, जिन्होंने उनके लेखों और ग्रन्थों का स्वाध्याय किया है। आर्य-समाजियों के शुष्क तार्किकता-पूर्ण व्यवहार और आर्यसमाज के श्रद्धा-शून्य धर्म प्रचार को देख कर यदि कोई ऐसा आक्षेप महर्षि पर करता है,तो वह भारी और भयानक भूल करता है। अच्छा हो, यदि ऐसे विज्ञ पाठक उनके ग्रन्थों का स्वयं अध्ययन करके उनके खण्डनात्मक कार्य के रहस्य को जानने का कुछ यत्न करें। उनके उस खण्डनात्मक कार्य में, जिससे उन पर असहिष्णु होने का दोषारोपण किया जाता है, राष्ट्रीयता की भावना का तारतम्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सब मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की परख उन्होंने केवल धर्म-शास्त्रों की कसौटी पर नहीं की है, किन्तु राष्ट्रीयता की कसौटी पर भी उनको कसा है। सर्व-साधारण हिन्दुओं को मूर्ति-पूजा का खण्डन साधारणतया बहुत अखरता है। महर्षि ने मूर्ति-पूजा के खण्डन में लिखा है कि "नाना प्रकार विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्रयुक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्ध मत में चल कर आपस में फूट बढ़ा के देश का नाश

करते हैं।" फिर आप लिखते हैं कि "मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान कर बैठे रहते हैं, उनका पराजय होकर राज्य स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं।" मुहम्मद गौरी द्वारा सोमनाथ के मन्दिर की और सम्वत् १९१४ में अङ्ग्रेज़ों द्वारा द्वारिका जी के रणछोड़ जी की लूट एवं पराजय के दृष्टान्त आपने इस कथन के समर्थन में दिये हैं। ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के प्रकरण में आपने स्पष्ट ही लिखा है कि "इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं, खान-पान आदि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में पेट भर निन्दा करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंगरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं, उनकी उन्नति कभी नहीं हुई। ········ भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुये हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं, तब अपने माता, पिता, पितामह आदि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़ के

पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?" इसी प्रकार थियोसोफिस्टों के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि "जब अपने देश में सब सत्य विद्या, सत्य धर्म, ठीक-ठीक सुधार और परम योग की सब बातें थीं और अब भी हैं, तब विचारिये कि थियोसोफिस्टों को एतद्देशवासियों के मत में मिलना चाहिये या आर्यावर्तियों को थियोसोफिस्ट होना चाहिये।"

'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें समुल्लास खण्डन-परक हैं। उन सब की अनुभूमिका में महर्षि ने बार-बार यह दोहराया है कि विरोध, ईर्ष्या, द्वेष या पक्षपात के वशीभूत हो किसी को हानि पहुंचाने के लिये नहीं, किन्तु सत्यासत्य के निर्णय के लिये, मनुष्य जाति की उन्नति की एकमात्र भावना से, उनको लिखा गया है। उनकी इस भावना का विपर्यास करके उन पर असहिष्णुता का दोष लगाना न्याय-संगत नहीं हो सकता। पारस्परिक धार्मिक-विरोध और साम्प्रदायिक असहिष्णुता भी उस समय चरम-सीमा को पहुंची हुई थी। जैनियों, सिक्खों और हिन्दुओं तक में परस्पर विरोध और असहिष्णुता पाई जाती थी। सैकड़ों सम्प्रदायों और हज़ारों जातियों-उपजातियों के भेदभाव के भयानक जाल में हिन्दू उलझे पड़े थे। रोटी-बेटी के सामाजिक व्यवहार का दायरा इतना संकुचित हो चुका था कि सार्वजनिक

प्रेम, सहानुभूति और सहृदयता बिलकुल नष्ट हो चुकी थी। जातीय संगठन इतना अधिक बिखरा हुआ था कि राष्ट्रीय भावना के पनपने की कोई आशा नहीं की जा सकती थी। साम्प्रदायिक मन्दिरों की भिन्न भिन्न मूर्तियों के समान सर्व-नियन्ता, सर्वव्यापक और सर्वोपास्य परमात्मा के इतने रूप, भेद और उपभेद बना लिये गये थे कि एक के मानने वाले सदा दूसरों पर कटाक्ष करने में लगे रहते थे। जैनियों ने गिरनार, पालिताना और आबू आदि को मुक्ति का धाम बता कर हरि-द्वार, काशी और प्रयाग आदि को हीन बताया तो हिन्दुओं ने यह व्यवस्था दे दी कि हाथी के पैर तले कुचले जाने का भय उपस्थित हो जाने पर भी आत्मरक्षा तक के लिये जैन मन्दिर में नहीं जाना चाहिये। इसी प्रकार हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत जितने सम्प्रदाय हैं, वे सब अपने इष्टदेव की स्तुति करते हुये उसको सर्वश्रेष्ठ तथा अन्यों को उससे हीन बताने में लगे रहते थे। शैवों ने शिव को परमेश्वर और विष्णु ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश, सूर्य आदि को उनका दास; वैष्णवों ने विष्णु को परमेश्वर और शिव आदि को विष्णु के भृत्य; देवी भागवत वालों ने देवी को परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि को उसके किंकर और गणेश खण्ड वालों ने गणेश को परमे-श्वर और शेष सबको उनके सेवक कहा है। ऐसे विरोध-भाव के रहते हुये सद्भाव कहां रह सकता था? वहां तो ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और कलह ही सदा मची रहनी सम्भव थी।

इसी अवस्था को देखकर बड़े संतप्त हृदय से महर्षि ने लिखा था कि "विदेशियों के आर्य्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना कठिन है।" आचार-अनाचार और भक्षाभक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करते हुये महर्षि ने लिखा है कि "इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।" तात्कालिक अवस्था का खूब गहरा विवेचन करके उसका जो विश्लेषण उन्होंने किया था, उसीके अनुसार उन्होंने उसके सुधार का यत्न किया। उनकी दृष्टि में ये सब मत-मतान्तर और सम्प्रदाय पारस्परिक विरोध एवं पराधीनता के कारण थे, इसलिये उनको दूर करने में उन्होंने अपनी सब शक्ति लगा दी। यह देश और इसके निवासी जिस परम्परागत रूढ़िवाद और जन्मगत अन्ध-विश्वास और सामाजिक कुरीतियों के शिकार बने हुये थे, उन सब को 'धर्म' के नाम से बनाये रखने का हठ और दुराग्रह किया जा रहा था। महर्षि ने उन सब की जड़ में कुठारा-

घात करने के लिये ही धर्माभास को मिटाना आवश्यक समझा और वे खण्डनात्मक कार्य करने के लिये विवश हुये। जातीय-अभ्युदय के मार्ग में भी 'धर्म' के नाम से रोड़े अटकाये जाते थे और जातीय उत्थान के लिये आवश्यक हर एक बात का विरोध 'धर्म' के नाम से किया जाता था। इस विरोध और कूड़ा करकट को दूर करके जातीय अभ्युदय एवं जातीय उत्थान के मार्ग को निष्कण्टक बनाना आवश्यक था। खण्डनात्मक कार्य के सिवा उस समय उसके लिये दूसरा कोई उपाय न था।

उस समय की धार्मिक मूढ़ता और सामाजिक जड़ता से विदेशी शासक और विदेशी धर्म-प्रचारक पूरा लाभ उठा रहे थे। महर्षि का उनके साथ मुकाबला था। उस अवस्था को बदले बिना स्वदेश, स्वधर्म, संस्कृति और भारतीयपन को बचाना कठिन ही नहीं असम्भव था और महर्षि के खण्डनात्मक कार्य के बिना इस अवस्था का बदला जाना संभव नहीं था। उस समय धर्म की लड़ाई थी, संस्कृति का युद्ध था, सभ्यता का संघर्ष था और भारतीयता की रक्षा की जटिल समस्या उपस्थित थी। जिन बुराइयों, कमजोरियों और कमियों से विदेशी लाभ उठा रहे थे, उनको मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के झमेले के रहते हुये दूर करना अशक्य था। महर्षि के खण्डनात्मक कार्य पर इसी दृष्टि से कुछ विचार करना चाहिये और उसके रहस्य को समझने का

यत्न करना चाहिये। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि महर्षि ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के खण्डनात्मक चार समुल्लासों से पहिले दस समुल्लास मण्डनात्मक लिखे हैं। खण्डन से मण्डन ढ़ाई गुना अधिक है। पहिले समुल्लास में मनुष्य के उपास्य देव परमात्मा के सौ नामों की व्याख्या करके उस विरोध एवं भेदभाव को दूर करने का यत्न किया है, जो धर्म और ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप और नामों को लेकर भ्रमवश पैदा कर लिया गया है। दूसरे और तीसरे में सन्तान के प्रति माता-पिता तथा गुरु के कर्तव्य का विवेचन किया गया है। चौथे और पांचवें में मनुष्य का अपने और समाज के प्रति कर्तव्य बताया गया है। छटे में राजनीति की विशद् चर्चा और सातवें, आठवें, नौवें तथा दसवें में धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। इन मण्डनात्मक दस समुल्लासों के बाद खण्डन के चार समुल्लास हैं। मण्डनात्मक समुल्लासों के क्रम से महर्षि की कार्यशैली का पूर्ण परिचय मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्डनात्मक कार्य उनकी दृष्टि में इतना प्रधान नहीं था, जितना कि मण्डनात्मक कार्य था और मण्डनात्मक कार्य में भी व्यक्तिगत जीवन को पहिला स्थान दिया गया था। मनु ने श्रुति और स्मृति के धर्म को आचार-प्रधान बताया है। महर्षि ने उसी का प्रतिपादन 'सत्यार्थ प्रकाश' में सब से पहिले किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि धार्मिक-सिद्धान्तों की अपेक्षा राजनीति को प्रधानता दी गई है। इसी आशय से

यजुर्वेद के पहिले अध्याय के छटे मन्त्र की व्याख्या करते हुये महर्षि ने लिखा है कि "मनुष्यै द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्तितव्यम् । प्रथमम् अत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्ती-राज्यश्रीप्राप्तिकरणम् । द्वितीयम्—सर्वा विद्याः पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणम् ।' अर्थात् "मनुष्य को दो प्रयोजन सदा सामने रखने चाहियें। पहिला यह कि सब पुरुषार्थ द्वारा शरीर की आरोग्यता प्राप्त करके चक्रवर्ती-राज्य का सम्पादन करे और दूसरा यह कि सब विद्याओं को पढ़ कर उनका सब जगह प्रचार करे।" चक्रवर्ती राज्य के सम्पादन किये बिना प्रचार का कार्य सफल नहीं हो सकता, इस सचाई को महर्षि दयानन्द भली प्रकार समझते थे। महर्षि का वैदिक-धर्म सार्वभौम और सार्वदेशिक इन्हीं अर्थों में था कि धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीति और राजनीति का कोई भी विषय उसकी सीमा से बाहर नहीं था। ऋषि के हृदय में उत्कट देश-भक्ति की प्रबल भावना समाई हुई थी। देश की पददलित और पराधीन अवस्था उनके लिये असह्य थी। साम्प्रदायिकता तथा मतमतान्तर के फैले हुये मायाजाल को देख कर उनके हृदय में विद्रोह की भावना जाग उठती थी। धार्मिक अंधविश्वासों की मूढ़ता तथा सामाजिक परम्परा की जड़ता के विरुद्ध उनके अन्तःकरण में क्रान्ति की आग धधकती रहती थी। जगद्गुरू के ऊंचे शिखर से गुलामी के गहरे गर्त में गिर कर देशवासियों का स्वदेशाभिमान से रहित होना उनके लिये

मर्मान्तक वेदना पैदा करने वाला था। यह कोरी कल्पना नहीं है। उनके जीवन की समस्त घटनायें और उनके लेखों का सम्पूर्ण संग्रह हमारे कथन का समर्थक है।

ऐसे लोकोत्तर महापुरुष का आर्यसमाज उत्तराधिकारी है। अधकचरे आर्यसमाजी और प्रतिभा-शून्य अकर्मण्य नेता भले ही आर्यसमाज को अपनी कमजोरियों के कारण कितना भी संकुचित क्यों न बना डालें और भले ही वे उसको उसी सम्प्रदायवाद की दलदल में फंसा दें, जिससे समस्त देश का उद्धार करने के लिये महर्षि ने उसकी स्थापना की थी, किन्तु इस में सन्देह नहीं कि आर्यसमाज को एक संगठन और संस्था के रूप में महर्षि अपने पीछे छोड़ गये हैं, जिसका स्वरूप बहुत ही व्यापक, कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और आदर्श महान् ऊंचा था। आर्यसमाज के बाद देश, जाति तथा राष्ट्र के उत्थान के लिये जितनी भी संस्थायें और संगठन खड़े किये गये हैं, वे उसके एक कोने में समा सकते थे। यदि उस के वास्तविक स्वरूप, कार्यक्षेत्र और आदर्श पर हम लोगों ने अपनी कमियों और कमजोरियों का मैल न चढ़ाया होता तो सम्भवतः वह सब गौरव, बड़प्पन, प्रतिष्ठा, नेतृत्व और महत्व उसको ही प्राप्त हुआ होता, जो अन्य संस्थाओं या संगठनों ने प्राप्त कर लिया है। क्या राष्ट्रीय-महासभा 'कांग्रेस' का कार्य आर्य-समाज के करने का नहीं था? क्या विधवाओं का दीन-हीन और स्त्री जाति का पराधीन अवस्था से उद्धार करना आर्य-

समाज का काम नहीं था ? 'खादी' ही नहीं किन्तु प्रत्येक स्वदेशी व्यवसाय को उत्तेजन देने का काय क्या आर्यसमाज नहीं कर सकता था। छूत-छात तथा ज़ात-पात को नामशेष कर क्या वैसी अवस्था पैदा करना आर्यसमाज के लिये सम्भव नहीं था, जिसमें हरिजन आन्दोलन को नये सिरे से उठाने की जरूरत ही नहीं रहती ? हिन्दी को समस्त देश में फैलाना भी क्या आर्यसमाज के कार्यक्रम का प्रधान अंग न था ? तभी तो उसके संस्थापक महर्षि ने अन्य मत-मतान्तरों तथा ब्राह्मसमाज एवं प्रार्थनासमाज की समीक्षा करने के बाद आर्यसमाज के सम्बन्ध में यह लिखा था कि "आर्यसमाज के साथ मिल कर उस के उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा; क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।" आर्यसमाज के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने यह दावा यों ही नहीं कर दिया था। दूर और पास से आर्यसमाज के यथार्थ रूप को देखने और समझने वाले विचारशील लोगों की आर्यसमाज के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा थी। उन सब की सम्मतियों का संग्रह यहां नहीं किया जा सकता। केवल एक अमेरिकन तत्वदर्शी ऐण्ड्रो जैक्सन डेविस की सम्मति यहां दी

जाती है। उस ने लिखा था कि "मुझ को एक आग दिखाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैल रही है और प्रत्येक वस्तु को जला कर भस्म कर रही है। अमेरिका के विस्तीर्ण मैदानों, अफ्रीका के बीहड़ जंगलों, एशिया के प्राचीन पर्वतों और युरोप के महान् राज्यों पर मुझे उस आग की लपटें दिखाई दे रही हैं। .... इस अपरिमित आग को देख कर, जो निस्सन्देह राज्यों, साम्राज्यों और समस्त संसार की नीति तथा प्रबन्ध के सब दोषों को पिघला डालेगी, मैं अत्यन्त आनन्दित होकर उत्साहमय जीवन बिता रहा हूं। आकाशचुम्बी पहाड़ों की चोटियां जल उठेंगी, घाटियों के सुन्दर और चमकीले नगर भुन जायेंगे, प्यारे घर और उनमें बेसुध हो प्रेममय जीवन बिताने वाले हृदय मोम की तरह पिघल जायेंगे। पाप और पुण्य संयुक्त हो कर ऐसे ही अन्तर्हित होजायेंगे जैसे सूर्य की सुनहरी किरणों के सामने ओस के बिन्दु अदृश्य हो जाते हैं। असीम उन्नति की आशा-विद्युत् से मनुष्य का हृदय चमक रहा है। उसकी केवल चिंगारियां आकाश की ओर उड़ती दीख पड़ती है। वक्ताओं, कवियों और ग्रन्थ-निर्माताओं की शिक्षाओं में भी कभी-कभी उस की लपटों की चमक दृष्टिगोचर होजाती है। आर्यसमाज की भट्टी में यह आग सनातन आर्य धर्म को स्वाभाविक पवित्र रूप में लाने के लिये सुलगाई गई है। भारतवर्ष के एक परम योगी ऋषि दयानन्द सरस्वती के हृदय में वह प्रकाशमान हुई थी। हिन्दू और मुसलमान उस प्रचण्ड आग

को बुझाने के लिये चारों ओर से पूरे वेग के साथ दौड़े, परन्तु वह उत्तरोत्तर ऐसी तेजी के साथ बढ़ती और फैलती गई कि उसके प्रकाशक दयानन्द को भी उसकी कल्पना न हुई होगी। ईसाइयों ने भी एशिया के इस नये प्रकाश को बुझाने में हिन्दू-मुसलमानों का साथ दिया, परन्तु वह ईश्वरीय आग और भी अधिक प्रज्वलित हो चारों ओर फैल गई। सम्पूर्ण दोषों की घटा इस आग के प्रकाश के सामने न टिक सकेगी। रोग के स्थान में आरोग्यता, झूठे विश्वास के स्थान में तर्क, पाप के स्थान में पुण्य, अविश्वास के स्थान में विश्वास, द्वेष के स्थान में सद्भाव, वैर के स्थान में समता, नरक के स्थान में स्वर्ग, दुःख के स्थान में सुख, भूत-प्रेतों के स्थान में परमेश्वर एवं प्रकृति का राज्य स्थापित हो जायगा। मैं इस आग को मांगलिक समझता हूँ। जब यह आग सुन्दर पृथिवी को नवजीवन प्रदान करेगी, तो सर्वत्र सुख, शान्ति और सन्तोष छा जायगा।" युरोप के तत्वदर्शी मोक्षमूलर की भी ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में ऐसी ही ऊंची, महान् और भव्य भावना थी।

अमेरिका में बैठे हुए ऐण्डरो जैक्सन डेविस ने आर्य-समाज की भट्टी में जिस भयानक अग्नि की लपटों को सारे संसार में फैल कर राग, द्वेष, वैर, अनीति, अत्याचार, दरिद्रता और पराधीनता आदि दोषों को भस्मीभूत होते देखा था, उस की ओर से यहां के सरकारी अधिकारी अचेत नहीं रह सकते

थे। ईसाई पादरियों के लिये तो आर्यसमाज चीन की दीवार साबित हुआ। ईसाय्यत की लहर उसके आगे नहीं बढ़ सकी। उसके साथ टकराते ही उनका सुख-स्वप्न टूट गया और उन्होंने देखा कि उनकी स्वप्न-सृष्टि की योजनाओं और आकांक्षाओं का पूरा होना सम्भव नहीं है। उनके भरोसे इस देश में अपने साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुंचाने की आशा लगाये हुये अंगरेज़ शासक भी घबरा उठे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने (जब वे श्री० मुन्शीराम जी कहलाते थे) ठीक ही लिखा था कि "आर्यसमाज के पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने बृटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी पर पटकनी मिलने लगीं, तब वे ओच्छी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्य्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्नमेंट को है।' फिर आपने लिखा था कि "क्या हवा का रुख यह नहीं बतला रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है; फिर यदि गवर्नमेन्ट के कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें तो आश्चर्य क्या है ?" ईसाई मिशनरियों की ही नहीं, किन्तु साधारणतया सिक्खों, मुसलमानों और हिन्दुओं आदि सभी की यह

मनोवृत्ति बन गई थी कि वे जिस किसी में कुछ थोड़ा-सा भी स्वाभिमान, स्वदेशाभिमान एवं स्वतन्त्र-विचार की भावना देखते थे, उसी को 'आर्यसमाजी' कह देते थे। अपने को बचाने के लिये सब दोष आर्यसमाज के माथे मढ़ दिया जाता था। क्रान्तिकारियों के आचार्य स्वर्गीय श्री० श्यामजी कृष्ण वर्मा, गरम राजनीतिज्ञों के अग्रणी पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय और कभी के उग्र राजनीतिज्ञ भाई परमानन्द जी आदि तो आर्यसमाजी थे ही, किन्तु १९०६ में विप्लवी नेता समझे जाने वाले सरदार अजीतसिंह और कोमागातामारू के ख्यातनामा नरकेसरी बा० गुरुदत्तसिंह जी का आर्यसमाज के साथ परोक्ष रूप में भी कुछ सम्बन्ध नहीं था; फिर भी उनको आर्यसमाजी प्रसिद्ध कर दिया गया था। १९०२ में अलाहाबाद में और १९०५ में कराची में आत्माराम नाम के एक सनातनी उपदेशक के विरुद्ध चलाये गये मुकदमों में हिन्दुओं की ओर से 'सत्यार्थप्रकाश' को राजद्रोही ग्रन्थ सिद्ध करने की पूरी चेष्टा की गई थी। वेलेण्टाइन शिरोल को 'गोकरुणानिधि' सरीखे ग्रन्थ में और गोरक्षा के लिये किये जाने वाले यत्नों में भी राजद्रोह दीख पड़ता था। रावलपिण्डी में गिरफ्तार किये गये आर्यसमाजियों के निरपराध छूट जाने पर भी उसने लिखा था कि "पंजाब और संयुक्तप्रांत के राजद्रोही आंदोलनों में आर्यों ने प्रमुख हिस्सा लिया है। रावलपिण्डी के सन् १९०७ के उपद्रवों में वहां के आर्य प्रमुख नेता थे और पिछले दो वर्षों के जिन

आंदोलनों के परिणाम स्वरूप भयानक उपद्रव हुये हैं, उनके नेता ला० लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह दोनों आर्य-समाजी हैं। जहां जहां आर्यसमाज का जोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिक्ख सम्प्रदाय की याद दिलाता है जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आन्दोलन था और पचास ही वर्षों में हरगोविन्द की आधीनता में वह एक शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।"

हरिद्वार के परे गंगा के उस पार एकान्त जंगल में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करना भी सन्देह से रहित नहीं था। एक गुप्त सरकारी लेख में गुरुकुल के सम्बन्ध में लिखा गया था कि "आर्यसमाज के संगठन में अभी अभी जो महत्व-पूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिये बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है 'गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली' का। इस प्रान्त में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा, किन्तु आर्यसमाज की धार्मिक-संस्था के रूप में आलोचना करते हुये उसकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। इस प्रणाली में कितने भी दोष क्यों न हों, किन्तु भक्तिभाव और बलिदान की उच्चतम भावना से प्रेरित जोशीले, धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तय्यार करने का यह सब से सुगम और उपयुक्त साधन है, क्योंकि यहां आठ

वर्ष की आयु में बालकों को माता-पिता के प्रभाव से भी बिलकुल दूर रखकर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायुमण्डल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार ढाला जाता है, जिससे उनके रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देख-रेख में बालकों की आयु की उस सत्रह वर्ष की अवधि तक बराबर जारी रहा, जो कि मनुष्य के जीवन में सब से अधिक प्रभावग्राही समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तय्यार होंगे, वे सरकार के लिये अत्यन्त भयानक होंगे। उन में वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास, अपने सिद्धान्तों के लिये कष्ट-सहन करने की भावना और समय आने पर प्राणों तक को न्यौछावर कर देना साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव डालेगा। इस प्रकार उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे जो निर्भय होकर उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिये कि उनका उद्देश्य सारे भारत में ऐसे जाति-धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू एक भ्रातृभाव की शृंखला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन, मन, धन—सर्वस्व को

देशहित के लिये अर्पण कर दो। ....सब से अधिक विचारणीय प्रश्न सरकार के लिये यह है कि इस समय गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा ? वर्तमान उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हु होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी और उसका सहज में जनता पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौता और उसकी गन्ध भी न होगी और सर्व साधारण के हृदयों पर उसका सीधा प्रभाव पड़ेगा। ....कांगड़ी में मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिकोत्सवों पर साठ-सत्तर हजार दर्शक प्रति वर्ष इकट्ठे होते हैं। कई दिनों तक वह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थरक्षा आदि का सब प्रबन्ध गुरुकुल के अधिकारी स्वयं करते हैं। बंगाल में मेलों का सब प्रबन्ध जैसे स्वयंसेवक करते हैं वैसे ही इस अवसर पर स्वयंसेवकों का सब काम ब्रह्मचारी करते हैं। संगठन और प्रबन्ध की दृष्टि से यह काम सर्वथा त्रुटि-रहित होता है। उत्सव पर इकट्ठे होने वाले लोगों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं और बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियां आभूषण तक दे देती हैं। ....विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुये इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध

होगा ? इस सम्बन्ध में महाशय रामदेव जी की लिखी हुई गुरुकुल की एक रिपोर्ट की भूमिका देखने योग्य है। उसके अन्त में उन्होंने लिखा है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों का 'बाईबिल' 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है जिससे ब्रह्मचारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उनमें उपदेश और उदाहरण दोनों से देश के लिये उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासियों का दल तय्यार किया जा रहा है, जिसका 'मिशन' सरकार के अस्तित्व के लिये भयानक संकट पैदा कर देगा।" इंगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री रेम्से मैकडानल्ड १९१४ में गुरुकुल पधारे थे, तब आप ने लिखा था कि "भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने कुछ थोडा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने उस गुरुकुल का नाम अवश्य सुना होगा, जिसमें आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्तरूप है। उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किये जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिये गये हैं। इसी लिये सरकार की इस पर तिरछी नजर है, पुलिस अफसरों ने इसके बारे में गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकांश ऐंग्लो-इण्डियन लोगों ने इसकी निन्दा की है।......सरकारी लोगों के लिये गुरु-

दण्ड की उस समय की सब कठोर व्यवस्था का प्रयोग केवल उनके ही विरुद्ध किया जाता था।

निःसन्देह आर्यसमाज के लिये वह भयानक संकट का काल था और आर्यसमाजियों के लिये वह अग्नि-परीक्षा का अवसर था। आर्यसमाज के उस समय के अप्रतिद्वन्दी नेता श्री मुंशीराम जी ने आर्यसमाजियों को विचलित न होने देने में अपनी सब शक्ति लगा दी थी। सरकार की कोपाग्नि से आर्यसमाज को बचाने के यत्न में उन्होंने कोई बात उठा न रखी थी। किसी देश, जाति, समाज, संस्था या संगठन के नेता की परीक्षा ऐसी ही संकटापन्न अवस्था में हुआ करती है। यह निर्विवाद है कि महात्मा मुंशीराम जी ने उस समय सर्वोत्तम नेता के योग्य गुणों का पूर्ण परिचय देकर उस विश्वास को सत्य सिद्ध किया था,जिससे आर्य-जनता ने हृदय-सम्राट् के ऊंचे सिंहासन पर बिठा कर उनका राज्याभिषेक किया था। महात्मा मुंशीराम जी के इस अथक यत्न पर भी आर्यसमाज अपने ऊंचे ध्येय पर कायम नहीं रह सका। राजनीतिक दृष्टि से उसके नैतिक-पतन का श्रीगणेश तब हुआ समझना चाहिये, जब उसकी ओर से उसके राजनीतिक संस्था न होने की दुहाइयां दी जाने लगीं और सरकारी कोप से बचने के लिये महर्षि दयानन्द के स्पष्ट लेखों का भी विपर्यास केवल सरकारी अधिकारियों को सन्तुष्ट रखने के लिये किया जाने लगा। इस समय आर्यसमाजियों को त्याग, तपस्या, बलिदान, कष्ट-सहन और

साहस का जैसा परिचय देना चाहिये था, नहीं दिया गया। आर्यसमाज को केवल धर्मोपदेशक-धार्मिक-संस्था बताना और यह कहना कि उसका राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, सब से बड़ी और ऐसी कमजोरी थी कि उसके बाद से उसके शक्तिहीन होने का जो क्रम शुरू हुआ, उससे वह आज तक भी नहीं सम्भल सका है। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों को बन्द कर देना, आर्य-सभासदों का आर्य-समाज की अपेक्षा सरकारी नौकरी को अधिक श्रेयस्कर समझ कर आर्यसमाज की सभासदी से नाम कटवा लेना और पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी तथा भाई परमानन्द जी सरीखों को आर्यसमाजी कहने में भयभीत होना कोई साधारण कम-जोरी नहीं थी। स्वर्गीय लाला जी ने आर्यसमाज की गृह-कलह के सम्बन्ध में लिखते हुये कालेज-दल के लोगों को दूसरों की अपेक्षा अधिक देशभक्त बताया है, किन्तु उस समय उन्होंने देशभक्ति के दिवालियेपन का जो दृश्य उपस्थित किया, वह आर्यसमाज के लिये अत्यन्त लज्जास्पद और घृणास्पद था। मांडले की नजरबन्दी से लौटने के बाद अनारकली-आर्यसमाज को अपने समाज-मन्दिर में उनका व्याख्यान कराने का एकाएक साहस नहीं हुआ था। पटियाला में गिरफ्तार आर्य-भाइयों के मुकद्दमे की पैरवी करने में उनमें से किसी ने भी किसी भी प्रकार का साथ नहीं दिया था। उस समय की कठोर दमन-नीति का पता श्री मुंशीलाल जी के उस समय के

कुछ लेखों से मिलता है। आपने एक लेख में लिखा था कि "यह बात छिपी हुई नहीं है कि पंजाब के सब डिपुटी कमिश्नरों ने अपने आधीन तथा पराधीन सब कर्मचारियों को समझा दिया है कि यदि वे आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होंगे, तो उनको अपनी आजीविका से हाथ धोना होगा।.........राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी का रख कर स्पष्ट कह दिया है कि यदि टकों में हाथ न धोना हो तो आर्यसमाज को छोड़ दो।" ऐसी भयानक स्थिति में आर्यसमाजियों को साहस, हिम्मत और धैर्य के साथ आपने दृढ़ बने रहने का आदेश दिया था, इसकी साक्षी भी उसी लेख से मिल जाती है। आप ने आर्यसमाजियों से कहा था कि "यदि तुम से यह कहा जाय कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वाणी वेद से विमुख होकर ही प्रजा-धर्म का पालन हो सकता है, तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नहीं हो सकता, उसको सांसारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिये तुम उद्यत नहीं हो।........ आर्य पुरुषो! क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है, तो फिर दो हाथ वालों की खातिर सहस्रबाहु का क्यों अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोजी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उससे बढ़ कर रोजी तुमको नहीं दे सकते?......संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है। इस लिये संसार को

धर्म पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है। जो सरकारी नौकर वैदिक-धर्म के गौरव को नहीं समझते, उनको अपनी निर्बलता मान कर आर्यसमाज से जुदा हो जाना चाहिये। जहां वेद और इण्डियन पीनल कोड का विरोध हो वहां श्रुति को धर्म का मूल मानना तथा जहां परमात्मा की आज्ञा का सांसारिक राजा की आज्ञा मे विरोध हो वहां परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो तो फिर आर्यसमाज में रह कर भी क्या लाभ होगा?" सचमुच, आर्यसमाज के लिये वह इतनी शोचनीय स्थिति थी कि श्री मुंशीराम जी सरीखे निर्भय नेता के होते हुये भी वह निर्भय होकर अपने ऊंचे आदर्श पर कायम नहीं रह सका। आर्यसमाज का सदा ही विरोध करने वाले बम्बई के सुप्रसिद्ध सनातनी पत्र 'श्री वैंकटेश्वर समाचार' तक ने यह लिखा था कि "आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया, किन्तु पंजाबी अफसरों के टूट पड़ने पर वह विचलित हुआ है। सफाई के इज़हार देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है, किन्तु धार्मिक सभा है। आर्यसमाज नाहक में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तों में लगा रहे उसका पक्ष सत्य है, तो उसके लिये घबराने का कोई कारण नहीं। कर नहीं तो डर क्या?"

दूरदर्शी राजनीतिज्ञों ने आर्यसमाजियों को खूब अच्छी तरह परख लिया। उनकी मनोवृत्ति को उन्होंने समझ लिया। उन्होंने देख लिया कि उनमें वह त्याग,

कुल एक पहेली है। उसके अध्यापकों में एक भी अंग्रेज़ नहीं है। अंग्रेजी साहित्य और उच्च शिक्षा के लिये पंजाब यूनीवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहां काम में नहीं लाई जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहां से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को यहां से अपनी ही उपाधियां दी जाती हैं। सचमुच, यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुये सरकारी अधिकारियों के मुंह से सहसा उनके लिये यही बात निकलती है कि यह राजद्रोह है। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में मैकाले को सम्मति प्रगट करने के बाद भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में यह पहिला ही प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहां तक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुये शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।"

शिक्षा के इस नये परीक्षण में जिस प्रकार सरकार की स्पष्ट अवज्ञा की गई थी और उसको राजद्रोह एवं सरकार के लिये भयानक समझा जाता था, वैसे ही आर्यसमाज के हर एक कार्य में सरकार की यदि अवज्ञा नहीं तो उपेक्षा ज़रूर की जाती थी। आर्यसमाज के समस्त कार्य का आधार स्वावलम्बन था। उसके प्रचार में केवल धर्म-कर्म की श्रद्धा-भक्ति की ही बातें नहीं होती थीं, किन्तु देशोद्धार, स्वदेश-भक्ति और

जातीय-अभ्युत्थान की चर्चा भी विशेष रूप में हुआ करती थी। उसकी तुक-बन्दियों में ये भाव मुख्यतया भरे रहते थे कि 'अगर देशहितैषी हमें न जगाता, तो देशोन्नति का किसे ध्यान आता। अविद्या की निद्रा में सोता था भारत, परोपकारी फिरता था घर घर जगाता।" स्वदेश-प्रेम और देश-भक्ति आदि की भावना को जगाने का सर्वप्रथम श्रेय आर्यसमाज को ही है।

ऐसे भयानक और शक्तिशाली संगठन अथवा संस्था का फलना-फूलना विदेशी शासक सहन नहीं कर सकते थे। उसको सब से पहिली और भारी चोट उस गृह-कलह से लगी थी, जिसका सूत्रपात् लाहौर के 'दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज' के आदर्श, प्रबन्ध तथा शिक्षा-पद्धति को लेकर हुआ था और मांस-भक्षण की बहस ने जिसको भयानकता की चरम-सीमा को पहुंचा दिया था। स्वर्गीय पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी ने भी आर्यसमाज के इस महाभारत में विशेष भाग लिया था। उन्होंने उसके सम्बन्ध में अपनी जीवनी में लिखा है कि "राय मूलराज को महात्मा दल के लोग सरकार का भेदिया और राय पेड़ाराम को कालेज-दल के लोग सरकार का भेदिया अथवा दूत समझते और कहते भी थे। लोगों का विचार था कि ये दोनों सज्जन सरकार के सँकेत पर समाज में फूट डाल कर उसकी शक्ति को बिगाड़ रहे हैं।" लाला जी के इस कथन का किसी ने भी प्रतिवाद नहीं किया है। इसलिये यह मानने में सन्देह नहीं रहता कि दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ राज्याधि-

कारियों ने परस्पर फूट डाल कर भेद-नीति से आर्यसमाज को परास्त करने का यत्न किया। उसका परिणाम सरकार के लिये और भी अधिक भयानक हुआ। उस गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का विकास, जिसके सम्बन्ध में सरकार की भयावह कल्पना ऊपर दी गई है, इसी गृह-युद्ध से हुआ था। परस्पर फूट पड़ जाने पर भी आर्यसमाज में और भी अधिक संगठित नव-शक्ति पैदा होगई, जिससे वह अपने कार्य में विशेष तत्परता तथा लगन के साथ लग गया।

समाज की इस बढ़ती हुई शक्ति को दण्ड-नीति से कुचलने की चेष्टा की गई। २० वीं सदी के पहिले दस वर्षों में सरकार के दमन-चक्र की सब शक्ति आर्यसमाज को परास्त करने में लगा दी गई थी। सरकारी नौकरी के लिये आर्य समाजी होना आपत्तिजनक समझा जाता था। उनको कोई नौकरी मिल जाने पर भी उन पर विशेष निगरानी रखी जाती थी। छावनियों में आर्यसमाजियों विशेषतः आर्यसमाजी उपदेशकों का प्रवेश निषिद्ध था। उनके धर्मोपदेश तक में सरकारी अधिकारियों को राजद्रोह की गन्ध आया करती थी। रोहतक में आर्यसमाजी पुस्तकें जब्त कर लेने की डुगडुगी पिटवाई गई थी। जोधपुर में वायसराय के पधारने पर समाज-मन्दिर पर से समाज का साइन-बोर्ड और 'ओ३म्' का झण्डा उतरवा दिया गया था। कुछ जाटों को सेनाओं से केवल इस लिये अलग कर दिया गया था कि उन्होंने आर्यसमाज से

अलग होना स्वीकार नहीं किया था। १६०९ में पटियाला के समस्त आर्यसमाजियों को गिरफ्तार कर उनके विरुद्ध १२४ अ, १५३ अ और १२१ अ धाराओं के अनुसार जो मुकद्दमा स्पेशल ट्रिब्यूनल की नियुक्ति करके चलाया गया था, उससे पता चलता है कि आर्यसमाज के प्रति उस समय कैसी भयानक दमन-नीति से काम लिया जा रहा था? उस मुकद्दमे की आड़ में आर्यसमाज को राजद्रोही-संस्था सिद्ध करने में कोई बात उठा न रखी गई थी। महीनों मुकद्दमे का नाटक रचा गया। आर्यसमाज के साहित्य और आर्यसमाजियों के सब पत्र-व्यवहार की छान-बीन की गई। 'इति शम्' को 'इति बम्' पढ़ कर उनके पास बम, पिस्तौल, बन्दूक, तलवार आदि ढूँढ़ निकालने की कोशिश में आकाश-पाताल एक किया गया। आर्यसमाज के रजिस्टरों से आर्यसमाजियों के नाम लेकर पुलिस की नम्बर दस की लिस्ट तय्यार की जाती थी। उसके उपदेशकों और नेताओं के आगे-पीछे पुलिस के खुफिया सिपाही चक्कर काटा करते थे। आर्यसमाज के अधिवेशनों पर सतर्क दृष्टि रखी जाती थी। सरकारी नौकरों का उनमें शामिल होना आपत्तिजनक समझा जाता था। गुरुकुल सरीखी संस्थाओं में गुप्तचरों के बराबर चक्कर लगा करते थे। सारांश यह है कि आर्यसमाज के हर एक कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था और उस पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। श्री० मुन्शीराम जी के शब्दों में आर्यसमाजी 'आउट लॉ थे, राज-

तपस्या, बलिदान और कष्ट-सहन नहीं है, जो सुदृढ़ साम्राज्यों की जड़ों को भी हिला डालता हैं। धार्मिक-संस्था का बाना पहिन कर भी आर्यसमाजियों ने सामूहिक रूप से उस साहस का परिचय नहीं दिया, जिसका परिचय प्रोटस्टेण्टों ने दिया था, विज्ञान को धर्म-विरुद्ध ठहराने वाले ईसाई पादरियों के अत्याचार को सहन करते हुये युरोप के सत्यप्रेमी वैज्ञानिकों ने दिया था और अपने 'धर्म' के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने वाले वीर-बहादुर सिक्खों ने दिया था। वास्तविकता तो यह थी कि आर्यसमाज को राजनीति से अलग रख कर केवल धार्मिक-संस्था बताना एक निराधार मिथ्या कल्पना थी, जिसमें सचाई का लव-लेश भी नहीं था। वह एक चाल थी, जिसमें उलझ कर आर्यसमाज राजनीतिक दृष्टि से ऐसा आदर्श-भ्रष्ट हुआ कि उस पर 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' की उक्ति सोलह आना चरितार्थ हो गई। सरकारी अधिकारियों ने जब देखा कि आर्यसमाजियों का झुकाव सरकारी कृपा प्राप्त करने की ओर है, तब उन्हों ने कोप के मार्ग का त्याग कर कृपा के मार्ग का अवलम्बन करने की सरकार को सलाह दी। भेद-नीति से आर्यसमाज को शक्ति-हीन बनाने में असफल होने वाली सरकार ने दण्ड-नीति का भी त्याग कर साम-नीति का आश्रय लिया। आर्यसमाज के प्रति सरकार का दृष्टिकोण एकाएक बदल गया। जहाँ पहिले आर्यसमाजी होना सन्देह, अविश्वास और भय का कारण

समझा जाता था, वहां उन पर भरोसा, विश्वास और कृपा की जाने लगी। सरकारी नौकरियों के लिये उनको पहिले अयोग्य समझा जाता था, अब उनको विशेषता दी जाने लगी। उस समय की नौकरियों वाले इस समय के पेन्शनर आर्यसमाज के गले का भार बन रहे हैं। वानप्रस्थी और संन्यासी न हो वे आर्यसमाज के पदाधिकारी और संचालक बने रहना चाहते हैं। सरकारी कृपा के विशेष चिन्ह सनदें, ख़िताब और ऊंचे पद उन को अनायास मिलने लग गये। गुरुकुलों तथा आर्यसमाजियों की अन्य संस्थाओं में कलैक्टरों, कमिश्नरों, लैफ्टिनेएट गवर्नरों और वायसराय तक ने पधारना और उन का गुण-गान करना शुरू किया। आर्यसमाजी नेताओं को गवर्नमेंट हाऊस के निमन्त्रण मिलने लगे। आर्यसमाजियों को सरकार ने दोनों हाथ फैला, छाती से लगा, अपनाना शुरू किया। सरकारी अफसर शास्त्रार्थों में मध्यस्थ हो आर्यसमाजियों की पीठ ठोकने लगे और आचार-प्रधान-धर्म से विमुख हो उनको कोरे प्रचार में लगे रहने के लिये उत्साहित करने लगे। इस सब का परिणाम यह हुआ कि जिस संगठन और संस्था में जहर की गोली पचा जाने की ताकत थी, उसको मीठे की गोली ने ऐसी गहरी नींद सुला दिया कि वह अपने आप को भी भूल गई। आज बड़े अभिमान और गौरव के साथ आर्यसमाज के चोटी के नेता भी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि आर्यसमाज सार्वभौम संस्था है, भारत की एकदेशीय

राजनीति में उसको भाग नहीं लेना चाहिये। उसका काम ब्राह्मण के समान केवल धर्मोपदेश करना है, उसको जीवन-मरण के व्यवहार से अलग रह कर केवल उपदेश करना चाहिये। उस के सभासदों में सभी श्रेणियों के, सभी विचारों के और सभी तरह के लोग हैं, जिनमें सरकारी नौकर, पेंशनर और पदवीधर भी हैं, उन सभी का ध्यान रख कर काम करना चाहिये। आर्यसमाज को 'पैरामाउण्ट पावर' के संघर्ष से बच कर दूसरे सम्प्रदायों की तरह केवल अपने प्रचार में लगे रहना चाहिये। यह सब युक्तिवाद हम लोगों के उस नैतिक-पतन का परिचायक है, जिससे हमने आर्यसमाज को भी नैतिक-पतन की गहरी खाई में ले जा गिराया है। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में कब और कौन 'सत्यार्थप्रकाश' के छठे समुल्लास की कथा करता है? कौन उपदेशक या आर्य नेता महर्षि के राजधर्म पर व्याख्यान देने का साहस करता है? व्याख्यान देना तो दूर रहा, उसको समझने, जानने और दूसरों को समझाने की आवश्यकता अनुभव करने वाले भी कौन और कितने हैं? कब कोई आर्यसमाजी 'सत्यार्थ-प्रकाश' के छठे समुल्लास, आर्याभिविनय अथवा गोकरुणानिधि का स्वाध्याय करता है? गुरुकुल की छोटी श्रेणियों को चौथे समुल्लास का जैसे गृहस्थ-प्रकरण नहीं पढ़ाया जाता, वैसे ही आर्यसमाजियों ने छठे समुल्लास का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना भी सदा के लिये बन्द कर दिया है। आर्य-

समाजों के मन्दिरों में भारत-माता के लिये बलिदान होने वाले राष्ट्रीय नेताओं की जयन्तियां नही मनाई जा सकती। ऐसी ही अन्य सार्वजनिक सभाओं का आयोजन उनमें नहीं किया जा सकता। आर्यसमाज के सामूहिक नैतिक-पतन का यह एक भयानक चित्र है, जिसको आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो स्पष्ट ही वह बहुत बड़ी आत्म-वंचना है। दूसरों को धोखा देने वाला पाप के सहारे कुछ दिन तो फल-फूल सकता है, किन्तु अपने आप को धोखा देने वाले का तुरन्त ही पतन हो जाता है। वह एक क्षण के लिये भी फल-फूल नहीं सकता। यह बात और है कि वह उसको पतन न मान कर उसमें भी अपना उत्थान समझता रहे। यदि कोई मिथ्या को सत्य, पाप को पुण्य, अन्धकार को प्रकाश और पतन को उत्थान समझता है, तो वह अपनी ही हानि करता है। इसी हानि तथा आत्म-वंचना के व्यापार में इस समय आर्यसमाज लगा हुआ है और 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः की-सी हमारी स्थिति हो रही है।

आत्म-वंचना से प्रारम्भ हुआ नैतिक-पतन सदा ही शतमुखी होता है। आत्म-वंचना की ठोकर खाकर नीचे गिरने वाले का संभलना यदि असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। सार्वभौम वैदिक-धर्म के प्रधान अङ्ग राजनीति की सर्वथा उपेक्षा करके जिन्होंने आर्यसमाज के सार्वभौम होने के झूठे सुर

अलापे हैं, उन्होंने उसको आत्म-वंचना की ऐसी भारी और गहरी ठोकर लगाई है कि सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से भी उसके सभासद अपने ऊंचे आदर्श से बहुत भ्रष्ट हो चुके हैं और निरन्तर अधिक ही अधिक नीचे गिरते जा रहे हैं। 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से लिखा गया है। पर, किसी भी आर्यसमाजी ने व्यक्तिगत रूप में अथवा किसी भी आर्यसमाजी संस्था ने सामूहिक रूप में महर्षि के गोरक्षा के मार्ग का अवलम्बन नहीं किया है और आर्थिक अभ्युदय की जिन संख्याओं की ओर उन्होंने संकेत किया है, उनकी सचाई को सत्य साबित करने की ओर एक पग भी नहीं उठाया है। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का जो उपदेश वे 'सत्यार्थप्रकाश' में कर गये हैं और जिसका आदेश वे अपने जीवन के समस्त व्यवहार में करते रहे हैं, उसकी ओर भी हमारा यथेष्ट ध्यान नहीं है। उनके आदेश या उपदेश को देखते हुये कोई भी आर्यसमाजी एक भी विलायती वस्तु काम में नहीं ला सकता है। परन्तु वस्तुस्थिति इतनी आशा-जनक नहीं, जितनी कि निराशाजनक है।

धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था और भी अधिक निराशाजनक है। माँस के भक्ष्याभक्ष और जात-पात अथवा चातुर्वण्य के जन्मगत होने या न होने का विवाद जिस समय आर्य समाज में शुरू हुआ था, वैसे तो उसी समय उसके धार्मिक जीवन एवं सामाजिक संगठन की जड़ें ढीली पड़ गई थीं, किन्तु अपनी

व्यक्तिगत राजनीतिक कमजोरी को सब समाज के माथे मढ़ने का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी आर्यसमाज में अराजकता फैल गई, उच्छृङ्खलता समा गई और स्वेच्छाचार मच गया। 'संस्कारविधि' के सोलह संस्कारों को यथावत् करने वाले कितने आर्यसमाजी हैं? कितने आर्य सभासद् 'पंचमहायज्ञविधि' के दैनिक कर्मकाण्ड को यथाविधि पूरा करते हैं? सन्ध्या-हवन करने वाले आर्य परिवार कितने हैं? कितने आर्य घरों में आर्यसमाज का धार्मिक रूप-रंग देखने को मिलता है? आर्यसमाजों के पदाधिकारियों तक में ऐसी बहुत बड़ी संख्या है, जिनके घरों में वर्षों बाद अब भी मूर्ति-पूजा, नवग्रह-पूजा, श्राद्ध, ब्राह्मण-भोज, जाति-भोज आदि 'कुलक्षण' और 'कुकर्म' पाये जाते हैं। संस्कारों पर ऊपर से आर्यसमाज का वैदिक रंग चढ़ा आर्यसमाजी और सनातनी पुरोहितों और संस्थाओं को दान-दक्षिणा दे अपने को दोनों ओर बनाये रखना तो साधारण बात है। यही हमारे सामाजिक जीवन की अवस्था है। जात-पात, छूत-छात और रोटी-बेटी के सामाजिक व्यवहार में हमारे पुराने जन्मगत रूढ़ि संस्कार जैसे चाहियें, वैसे नहीं बदले हैं। गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था के ढोल हम बराबर पीटते आ रहे हैं, किन्तु उसको अपने व्यवहारिक जीवन के साथ तन्मय करने का परीक्षण तक हमने नहीं किया है। आश्रम-धर्म की भी यही दुर्दशा है। बान-प्रस्थ और संन्यास आश्रम का पालन

करने वाले कितने वीर पुरुष सामने आये हैं? विवाह-सम्बन्ध में जन्मगत जात-पात की मर्यादा को लांघने का साहस दिखाने वाले आर्यपुरुषों की संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। विवाह-सम्बन्ध में जात-पात की मर्यादा न लांघने का ही यह परिणाम है कि हम न तो पुरानी जात-बिरादरियों, न वंशानुगत पण्डे-पुजारी-पुरोहितों और न पौराणिक कालीन रीति-रिवाजों तथा कुसंस्कारों के ही मायाजाल से अपने को मुक्त कर सके हैं। ऐसी दुरवस्था में आर्य-बिरादरी का कायम होना न संभव था और न है। प्राय: सभी विवाहों में साया और मुहुर्त देखा जाता है, भले ही रात के बारह या सवेरे के चार बजे का समय क्यों न हो और चाहे सूर्य-दर्शन आदि की विधि भी न की जा सके। विवाह का संस्कार क्या होता है, केवल एक रस्म अदा की जाती है। सेहरा, मुकुट, कङ्गन, घोड़ी आदि की पुरानी सब रस्में यथाविधि होती हैं। केवल इतना भेद किया जाता है कि सनातनी पुरोहित की जगह आर्यसमाजी पंडित मन्त्र पढ़ देता है, बीच में व्याख्यान देकर प्रचार भी कर देता है और एक पंथ दो काज होते देख आर्यसमाजी जनता कृतार्थ हो जाती है। धर्म-कर्म का यह सब प्रपंच कोरी आत्म-वंचना है। हमारा आर्यसमाजीपन समाज के केवल साप्ताहिक अधिवेशनों के लिए रह गया है। वहां होने वाला सन्ध्या-हवन और धर्मोपदेश हमारे सब धर्म-कर्म और सामाजिक जीवन के लिये पर्याप्त समझा जाता है। इस पर भी उसमें शामिल होना

आवश्यक नहीं है। समय रहा तो चले गये। कोई दूसरा काम आ गया, तो सहज ही में उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।

ऐसी अवस्था में हमारा संगठन क्या हो सकता था? ऐसा एक समय सुनने में तो आता है जब पारस्परिक परिचय के लिये 'नमस्ते' और 'महाशय जी' कह देना बहुत होता था। उस समय के आतिथ्य, प्रेम, सत्कार, सहृदयता और सहानुभूति की भी बहुत सी बातें और घटनायें सुन पड़ती हैं। पर, अब उनकी छाया भी कहीं दीख नहीं पड़ती। जब कि उसका आधार ही नहीं रहा, तब वह कैसे रह सकता था? एक मत, एक हानि-लाभ और एक सुख-दुःख की व्यापक भावना की शिला पर आर्यसमाज की स्थापना की गई थी और व्यक्तिगत धार्मिक जीवन पर उस शिला को स्थिर किया गया था। व्यक्तिगत धार्मिक जीवन की तह में रखा गया था सदाचार को। वह सब अब इतना ढीला पड़ गया है कि सदाचार की शाब्दिक व्याख्या पर ही सब जोर आजमाया जा रहा है। शब्दों की बाल की खाल नोची जा रही है। जिन लोगों ने आर्यसमाज को सार्वदेशिक और वैदिक धर्म को सार्वभौम कह राजनीति को उससे अलग करके उसको केवल उपदेश करने वाली ब्राह्मण-संस्था बताने का वाग्जाल रचा है, उन्होंने ही आर्यसमाज के दस नियमों का हवाला देकर सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से हीन से हीन कार्य करने की प्रवृत्ति सर्वसाधारण में पैदा की है। मांस-भक्षण, श्राद्ध, जात-पात और

छूत-छात आदि के सम्बन्ध में जब अपनी व्यक्तिगत कमजोरी को छिपाने के लिये यह कहा जाता है कि आर्यसमाज के दस नियमों में तो इन के लिये कोई रोक-टोक नहीं की गई है, तब सचमुच हम को अपनी दुरवस्था के लिये लज्जित होना चाहिये। अच्छा तो यह है कि अपनी कमजोरी को कमजोरी मान कर उसको सुधारने का यत्न किया जाय, किन्तु होता यह है कि अपनी कमजोरी को समाज के माथे मढ़ कर सब संस्था को ही निर्बल बनाया जाता है। यही आत्म-वंचना है, जिसका खेल खेलने में इस समय हम सब आर्यसमाजी लगे हुये हैं।

हमारी सार्वजनिक संस्थायें भी उसी आत्म-वंचना का शिकार हो रही हैं। कहने को आर्यसमाजों की संख्या हजारों तक पहुंची हुई है, किन्तु उनमें जीती-जागती क्रिया-शील कितनी हैं? कितनों के तो साप्ताहिक अधिवेशन तक बड़ी कठिनाई से होते हैं। उनके प्रति आर्य पुरुषों की उदासीनता दिन पर-दिन बढ़ती जाती है। पंजाब और संयुक्त प्रान्त में प्रतिनिधि सभाओं का संगठन कुछ अच्छा है, किन्तु अन्य प्रान्तों में वह नाममात्र का ही है। शिरोमणि-सार्वदेशिक-सभा का नाम तो 'अन्तर्राष्ट्रीय-आर्यन्-लीग' रख दिया गया है, किन्तु उसका प्रभाव एक साधारण संस्था के बराबर भी नहीं है। वह इतनी सुस्त है कि उसमें जागृति, चेतना और जीवन पैदा करने के लिये कुम्भकर्ण को जगाने के समान भयानक आन्दो-

लन करना पड़ता है। 'राष्ट्र-संघ' (लीग आफ नेशन्स) की-सी प्रभाव-शून्य अवस्था हमारी 'अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था' की हो रही है। सत्याग्रह का मोर्चा लेने के लिये कितनी बातें बनाई गईं, कितनी अपीलें निकाली गईं, कितनी तय्यारियां की गईं किन्तु सब टांय-टांय फिस हो कर रह गया। हम शूरमाओं की सब वीरता गीदड़-भभकी साबित हुई। निर्वीर्य क्षत्रिय के शस्त्र-बल के समान हमारा आर्यसमाजीपन बिलकुल थोथा निकला। हमारे आर्य-वीर-दलों की सेनायें पानी पिलाने, पंखा झलने और मेलों पर पहरा देने के काम की रह गईं। गौरव की रक्षा की जरा-सी भी कोई टेढ़ी समस्या कभी उपस्थित होती है कि हमारा सब संचित शौर्य और वीर्य काफूर हो जाता है। हमको बुझी हुई आग समझ जो कोई हमारे ऊपर पैर रख चलने का साहस कर लेता है। दिन में दो बार सन्ध्या में 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' का पाठ करने वालों, बल-वीर्य तथा ओज के पुंज भगवान् से बल-वीर्य तथा ओज का मुंहमाँगा बरदान पाने वालों और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का अभिमान रखने वालों की यह दीन-हीन अवस्था कितनी लज्जास्पद है? परोपकारिणी-सभा के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही अच्छा है। सब शक्ति लगा कर भी आर्यसमाजी उसकी निद्रा भङ्ग नहीं कर सके।

इस अवस्था पर रुक कर हम कभी विचार नहीं करते और करना भी नहीं चाहते। उसकी हमको कभी कुछ आव-

श्यकता भी प्रतीत नहीं होती। उसके लिये हमारे पास समय ही नहीं है। स्वयं चाहे वेद को कभी पढ़ें भी नहीं, किन्तु वेद-प्रचार की धुन में हम इतने मस्त हैं कि हमारा सब समय, सब मेहनत, सब योग्यता, सब साधन और सब धन वेद-प्रचार की योजनायें बनाने में खर्च हो जाता है। इसी लिये जो धर्म आचार-प्रधान था और जिसके प्रचार का श्रीगणेश आचार से होना चाहिये था, वह केवल उच्चार और प्रचार का धर्म रह गया है। "आचारः परमो धर्मः" को अपना आदर्श न रख कर हमने 'प्रचारः परमो धर्मः' को अपना आदर्श बना लिया हैं। जो संस्थायें हमारे वास्तविक गौरव की कारण हैं, जिनमें हम आचार-प्रधान-धर्म की नींव डाल सकते हैं, जो हमारे कार्य तथा साधना का सर्व-श्रेष्ठ परिणाम हैं, जिनकी ओर संकेत करके हम अपने स्वरूप का कुछ परिचय दे सकते हैं और जो साधना-प्रधान आर्य-महापुरुषों के त्याग, तपस्या तथा बलि-दान की ऐसी विभूति हैं जिसको प्राप्त करके सब देश, जाति, समाज तथा राष्ट्र कृतकृत्य हो रहा है, आज वे हमको गले का भार मालूम हो रही हैं। कोरे शाब्दिक प्रचार की तुलना में हम उनको गौण समझ रहे हैं। केवल शाब्दिक योजनाओं और धन की ढेरियों से प्रचार तो हो नहीं सकता, साथ में संस्थाओं का काम भी सुचारु रूप में नहीं हो पाता। अपनी संस्थाओं के प्रति हमारी यह संशयात्मा-वृत्ति हमारे लिये और संस्थाओं के लिये भी घातक सिद्ध हो रही है। आत्म-वंचना

का स्वाभाविक परिणाम आत्मघात है।

वास्तविकता यह है कि हम स्वयं तो अभी कुछ बन नहीं पाये थे और चल दिये सब संसार को 'आर्य' बनाने। अपने व्यक्तिगत जीवन, घर, परिवार और समाज को 'आर्य' बनाये बिना सब संसार को 'आर्य' बना देने का स्वप्न 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगा देने से ही पूरा नहीं हो सकता। सच तो यह है कि 'आर्य' शब्द ने हमको एक बड़े धोखे में डाल दिया है। हमारी आत्म-वंचना का वह भी एक बड़ा कारण है। अपने लिये 'आर्य' शब्द का प्रयोग करके सर्व-श्रेष्ठ बनने का तनिक-सा यत्न किये बिना ही हमने यह समझ लिया कि संसार में सर्व-श्रेष्ठ हम ही हैं। मोर के पंख लगा मोर बनने वाले कौवे की-सी हमारी स्थिति हो रही है। हमारे अपने भीतर, घर और परिवार में पौराणिकता ज्यों की त्यों भरी हुई है, फिर भी हम कहते हैं अपने को 'आर्य'। यह थोथा 'आर्यत्व' कब तक निभ सकता है ? ईकाई की उपेक्षा करके हम हजार और लाख का काम पूरा करना चाहते हैं, जो सिर के बल चल कर पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने के समान नितान्त असम्भव है। आर्यसमाज के वैदिक-धर्म का अनुष्ठान व्यक्तिगत जीवन की ईकाई से होना चाहिये। वैसा न करके उसका अनुष्ठान हम सारे संसार में यह जानते हुये भी कर देना चाहते हैं कि बिना नींव और खम्भों के मकान की छत नहीं डाली जा सकती। हिमालय को पैदल नांघने सरीखे इस

असम्भव कार्य को हम पूरा करना चाहते हैं केवल ऐसे वेतनभोगी उपदेशकों तथा भजनीकों के भरोसे, जो 'सत्यार्थ-प्रकाश' के खण्डनात्मक चार समुल्लास घोट कर 'महामहोप-देशक' तो तुरन्त बन जाते हैं, किन्तु पहले दस समुल्लासों के अनुसार जिन्होंने अपना जीवन कभी नहीं ढाला होता। महर्षि के तर्क की कोरी नकल करना हम सीख गये हैं, किन्तु श्रद्धा, प्रेम और भक्ति की शिक्षा हमने उनके जीवन से ग्रहण नहीं की है। हम अपने को उनके शब्दों का ग्रामोफोन तो बना लेते हैं, किन्तु उनकी तपस्या तथा साधना की ओर हमारा कभी ध्यान नहीं जाता। इसी लिये हमारे प्रचार का यथेष्ट परिणाम नहीं निकलता और न निकल सकता है।

आर्यसमाज के विस्तृत और व्यापक कार्यक्रम के एक-एक अङ्ग को लेकर नई संस्थायें तथा संगठन खड़े हो जाते हैं और देश में नव-जीवन, चैतन्य और स्फूर्ति की लहर दौड़ जाती है, किन्तु आर्यसमाज निर्जीव-सा हो रहा है। उसको कार्यक्रम का अभाव-सा प्रतीत हो रहा है। सब देश को जीवन प्रदान करने वाला, चेतना व प्राण की अटूट सम्पति का खजाना सौंपने वाला, सब को संगठन का पाठ पढ़ाने वाला और लोकोत्तर महापुरुष का उत्तराधिकारी होने वाला आर्यसमाज जीवन की खोज में भटक रहा है। यह कितने आश्चर्य और दुःख का विषय है? दूसरे सम्प्रदायों की धूम-धाम, आडम्बर, ढोंग तथा बनावट की

नकल हम आर्यसमाजियों ने भी करनी शुरू कर दी है और इस प्रकार मृतप्राय देह की ठंडी पड़ी हुई नसों में गरमी पैदा करने की व्यर्थ चेष्टा की जाती है। यह हम भूल जाते हैं कि *ये चीजें जीवन की साक्षी हैं, कारण नहीं।* इनसे जीवन का परिचय मिल सकता है, किन्तु जीवन पैदा नहीं हो सकता। जीवन तो अपने भीतर है, जिसको केवल त्याग, तपस्या और साधना से प्राप्त किया जा सकता है। अपने भीतर से प्राप्त होने वाले 'अमृत' के लिये हमने भी अन्य मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की तरह बाह्य आडम्बरों में उलझना शुरू कर दिया है। 'न लिंगं धर्मकारणम्' का उपदेश करते हुये भी उसके विरुद्ध आचरण किया जा रहा हैं। इसी लिये सार्वभौम संस्था की गणना हिन्दू-समाज के अन्तर्गत जैन, सिख, बौद्ध आदि के समान सम्प्रदाय के रूप में की जाने लगी है और अपने व्यापक स्वरूप को भुला कर वह एक पन्थ बनता जा रहा है। हिन्दुओं की जिस परम्परागत-साम्प्रदायिक-वृत्ति को मिटाने के लिये आर्यसमाज की स्थापना की गई थी, वह उसी पर अपना रङ्ग चढ़ा रही है। सब को अपने में समा लेने वाला सार्वभौम आर्यसमाज साम्प्रदायिकता के संकुचित दायरे में समाता जा रहा है। विशाल आर्य जीवन की राष्ट्रीयता, धार्मिकता तथा सामाजिकता नष्ट होकर साम्प्रदायिकता पूरे वेग के साथ फल-फूल रही है। भारतीयों की जिस साम्प्रदायिकता ने बौद्धों, जैनियों तथा सिक्खों आदि को नैतिक-पतन की गहरी खाई में

गिरा कर सदा के लिये सुला दिया है, वह आर्यसमाज पर भी विजयी हो रही है। सब सम्प्रदायों को मिटाने के लिये स्थापित किया गया विस्तृत सार्वजनिक संगठन स्वयं एक संकुचित सम्प्रदाय बन चला है। सचमुच, देश का यह दुर्भाग्य है।

हमको अपने संस्थापक महर्षि दयानन्द, स्वनामधन्य पण्डित लेखराम तथा दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्द आदि के बलिदान का बड़ा अभिमान है और उस बलिदान के भरोसे हम सारे संसार में 'ओ३म्' का झण्डा गाड़ देने का सुख-स्वप्न देखा करते हैं। निस्सन्देह जिन संगठनों, समाजों और संस्थाओं की नींव शहीदों के खून और हड्डियों से भरी जाती हैं, वे संसार में अमर हो जाती हैं। इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन को अभय दान मिल जाता है और उनका अस्तित्व हमेशा के लिये अक्षुण्ण बन जाता है। विवेकभ्रष्ट होने के बाद पतन तो उनका भी होता ही है। सिक्खों, मराठों और राजपूतों ने हम आर्यसमाजियों से कहीं अधिक महान् त्याग, बलिदान और आत्मोत्सर्ग किया है। जब वे जातियां उसके बाद भी उन्नति के शिखर पर कायम नहीं रह सकीं तब आर्यसमाज उनकी तुलना में बलिदान की इस छोटी पूंजी के सहारे कैसे सदा जीवित और उन्नत रह सकता है? फिर, आर्यसमाज को वैदिक-धर्म की सचाई का बहुत अभिमान है। छोटे-से छोटा और साधारण आर्यसमाजी भी इस अभिमान में इतना उन्मत्त है कि वह बड़े से बड़े महा-

पुरुष को छोटा कहने में संकोच नहीं करता । माना कि आर्यसमाज के पास सूर्य की रोशनी है। पर, वह किस काम की है, यदि उससे हम अपने घर में भी उजाला नहीं कर सके हैं। हमारे इस सूर्य से वह दिया कहीं अधिक अच्छा, उपयोगी और काम का है, जो अंधियारे में भटकते हुये मनुष्य को चार कदम रास्ता दिखा सकता है। दूसरे लोग टिमटिमाते हुये दियों को हाथ में ले उन्नति के शिखर पर चढ़ते जा रहे हैं और हम सूर्य की रोशनी पास होने पर भी नीचे ढुलक रहे हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'सचाई' किसी एक ही समाज या संस्था की बपौती नहीं है। उसके सम्बन्ध में कोई अन्तिम रेखा नहीं खींची जा सकती। उसका न कोई आदि है और न अन्त है। उसके प्रचार के लिये समय समय पर अनेकों महापुरुष आते रहते हैं और अनेक संस्थायें बनती रहती हैं। नयों का जन्म पुरानों की रियायत नहीं करता। वह उनकी छाती पर पैर रख आगे बढ़ जाता है। आर्यसमाज के ढीले पड़ जाने पर सचाई का प्रचार नहीं रुका। अछूतोद्धार की समस्या का हल आर्यसमाज की प्रतीक्षा नहीं करता रहा। जात-पात तथा छूत-छात आदि के जन्मगत संस्कारों को यद्यपि आर्यसमाजी चिपटे हुये हैं, तो भी वे मिटते जा रहे हैं। महर्षि की राष्ट्रीय भावना से आर्यसमाज ने किनारा काट लिया, तो भी वह मरी नहीं। वह दिन दूनी रात चौगुनी फल-फूल रही है। उसको उद्दीप्त करने के लिये आर्यसमाज से कहीं अधिक शक्ति-

शाली, व्यापक तथा संगठित संस्था उठ खड़ी हुई है और समस्त आर्यसमाजियों की संख्या से भी कहीं अधिक स्त्री-पुरुष उसके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तय्यार हैं। हिन्दी के प्रचार का कार्य भी आर्यसमाज के पीछे रुका नहीं रहा। आर्यसमाज की सीमा लांघ कर वह दक्षिण के सुदूर प्रांतों तक में बड़ी तेजी के साथ फैल गया है। महर्षि की तपस्या और मिशन के बीज ऐसी उपजाऊ भूमि में डाले गये हैं कि आर्यसमाज के निर्जीव हो जाने पर भी वे फले-फूले बिना नहीं रह सकते थे। हिन्दू-समाज के जीवन में चहुंमुखी क्रांति पूरे वेग के साथ प्रगट हो रही है। पुराने विचारों, पुरानी सामाजिक रूढ़ियों और जीर्ण-शीर्ण धार्मिक अन्धविश्वासों को वह कल्पनातीत तेजी के साथ छोड़ता चला जा रहा है। अपनी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, इतिहास और आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये वह कटिबद्ध है। बाह्य आडम्बरों से ऊपर उठ कर धर्म के गहरे तत्व की छानवीन करने में वह लीन है। इस प्रकार यह समझना भूल है कि उस 'सचाई' का सब ठेका या एकाधिकार महर्षि केवल आर्यसमाज को दे गये हैं। जब आर्यसमाज उसके आचार, प्रचार और व्यवहार में पिछड़ रहा है, तब नये समाजों, संगठनों और संस्थाओं का पैदा होना अनिवार्य है। उसको महर्षि ने न रोका है और न वे रोक सकते थे।

एक ओर आर्यसमाजियों के व्यक्तिगत जीवन में

'आर्यत्व' कम होता जा रहा है और दूसरी ओर आर्यसमाज में सामूहिक रूप से किसी भी संकट का सामना करने का साहस नही रहा है। हमारा कोरा धर्म-प्रचार भी दूसरों के लिये है, अपने लिये नहीं। समाजों के साप्ताहिक अधिवेशनों में होने वाली कथा, उपदेश और धर्म-चर्चा सब दूसरों के लिये होती है, उत्सवों पर होने वाले व्याख्यान भी दूसरों के लिये होते हैं और शास्त्रार्थ आदि में भी अपने लिये कुछ नहीं होता। सब संसार को आर्य बनाने की रट में हमने अपने को आर्य बनाने का यत्न करना छोड़ दिया है। आत्म-परीक्षा द्वारा आत्म-सुधार की चर्चा हम कभी नहीं कहते। वर्ष में केवल एक बार हम सब आर्यसमाजी पदाधिकारियों के चुनाव के दिन इकट्ठे होते हैं। उस दिन भी आत्म-सुधार की चर्चा नहीं होती, आत्म-परीक्षा और आत्म-समीक्षा का कार्य नहीं किया जाता। प्रचार, खण्डन-मण्डन और उपदेश में दूसरों के दोष निकालने का हमारा स्वभाव इतना बुरा बन गया है कि उस दिन भी हम दूसरों के ही दोषों की चर्चा करते हैं, एक दूसरे पर कटाक्ष करते हैं और वर्ष भर में यत्न पूर्वक जमा किये गये राग-द्वेष-कलह तथा ईर्ष्या का प्रदर्शन करते हैं। यही कारण है कि हमारी समाजें और संस्थायें दलबन्दी का शिकार हो रही हैं। साधारण-सी बात पर भी कौरव-पाण्डवों की-सी लड़ाई मच जाती है। यादवकुल को मिटाने वाली कलह शुरू हो जाती है। सभ्यता शिष्टता, तथा सहृदयता और

आपस के प्रेम, लिहाज तथा सहानुभूति की निर्दयतापूर्ण हत्या करके समाचार-पत्रों और पर्चेबाजी में ऐसी गन्दगी पर उत्तर आते हैं कि साक्षात् अश्लीलता भी हमारे इस पाप कर्म पर मारे लज्जा के अपना मुंह ढांप लेती होगी। पर, हमको लज्जा अनुभव नहीं होती। दूसरों के साथ जैसा गंदा व्यवहार करने की हमने अपनी प्रकृति बना ली है, वह सहज में बदल नहीं सकती। उसी का प्रदर्शन हम आपस में करने लग जाते हैं। आचार के साथ जितने भी उपसर्ग लग सकते हैं, उन सब का खुला प्रयोग हम एक दूसरे के प्रति कर डालते हैं और वैसा करते हुये थोड़ा-सा भी संकोच नहीं करते। परिणाम यह हो रहा है कि हमारे लेखों, व्याख्यानों और प्रचार में अब केवल भूत-काल का प्रयोग होने लगा है, वर्तमान और भविष्य की चर्चा बहुत कम सुनने में आती है। वैदिक-सभ्यता इतनी ऊंची थी, इतनी फैली हुई थी, अमेरिका-चीन-जापान-जर्मनी में उसकी पताका फहराती थी, वह इतनी प्राचीन थी, महर्षि दयानन्द यह सब लिख गये या कह गये हैं, स्वामी श्रद्धानन्द जी यह सब कर गये हैं—इत्यादि बातों की चर्चा हम खूब करते हैं, किन्तु हम क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहते हैं—इसका वर्णन करने वाले आर्य-समाज के नेता या उपदेशक कहां और कितने हैं? अच्छा हो यदि आर्यसमाज और आर्यसमाजी कुछ वर्षों के लिये प्रचार को एक दम बंद करके केवल आचार को बनाने में लग जावें

प्रचार-प्रधान धर्म का त्याग करके केवल आचार-प्रधान धर्म का सम्पादन करें। संख्या को बढ़ाने की चिन्ता में न पड़ कर अपने 'आर्यत्व' को दृढ़, ठोस और पुष्ट करने का यत्न करें। दूसरों के दोष, कमियों और कमजोरियों को ढूंढने के काम को सर्वथा तिलांजलि दे कर केवल अपने दोष, कमियों और कमजोरियों की छानबीन करके उनको दूर करने में ही सब शक्ति लगा दें। खण्डन के काम से हाथ खींच, एकाग्र हो मण्डन के काम में लग जावें। सब संसार को आर्य बनाने की झूठी महत्वाकांक्षा के पीछे पागल न हो अपने घर, परिवार और समाज को आर्य बनाने की आकांक्षा को पूरा करने में दत्तचित्त हो जांय। महर्षि के लेखों और जीवनी के प्रकाश में अपने जीवन की परख करें और आत्म-परीक्षा तथा आत्म-समीक्षा द्वारा आत्म-सुधार के बृहद् यज्ञ का अनुष्ठान करें। हम सब का जीवन ऐसा बन जाय कि हम में से प्रत्येक अपने आचार-विचार तथा व्यवहार द्वारा 'महामहोपदेशक' का काम करे। हमारे हृदयों में चुम्बक की-सी शक्ति हो; जिससे सहज में दूसरों को हम अपनी ओर आकर्षित कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक द्वारा लेखक ने आर्यसमाज और आर्य-समाजियों में यही प्रवृत्ति पैदा करने का यत्न किया है। अपने को आत्म-सुधार के कार्य में लगाने की ओर उसने उनको प्रेरित किया है। समाज में स्वतन्त्र विचार की भावना पैदा हो, अपने दोषों को देखने तथा समझने के वे आदी बनें और

अपने जीवन को दृढ़, ठोस तथा पुष्ट बनाने का वे यत्न करें—इस इच्छा तथा अकांक्षा से यह पुस्तक लिखी गई है। आशा है आर्य बन्धु इसको इसी दृष्टि से पढ़ेंगे और लेखक की इच्छा तथा आकाँक्षा को कुछ न-कुछ अंशों में अवश्य पूरा करेंगे। लेखक की भाषा कहीं-कहीं बहुत अधिक कठोर हो गई है और अपने विचारों में कहीं-कहीं वे बहुत अधिक बह गये हैं, किन्तु फिर भी जिस सचाई की ओर वे आर्य भाइयों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेखक की विचार-शैली और लेखन-शैली का एक दोष बहुत खटकने वाला है। वह यह है कि उन्होंने कार्यकर्ताओं के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोरता से काम लिया है और उनकी भावना पर भी कहीं-कहीं आक्रमण किया है। आशा है उसकी उपेक्षा करके आर्य भाई हंस की तरह पानी को त्याग कर अपने लिये उसमें से दूध ले लेंगे।। पुस्तक जिस उच्च भावना, उदार आशय और आर्यसमाज को कर्मशील संस्था बनाने की आकांक्षा मे लिखी गई है, उसी को सामने रख कर कुछ शान्त हृदय से इसको पढ़ना चाहिये। लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक अपने को दूध का धुला हुआ नहीं समझते हैं। उनमें हजारों दोषों, कमियों तथा कमजोरियों का होना संभव है और 'आर्यत्व' की दृष्टि से उनके जीवन में भी अनार्यत्व की कई बातें भरी पड़ी होंगी, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम अपने दोषों की परीक्षा न करें,

अपनी कमियों को जानना न चाहें, अपनी कमजोरियों को दूर करने में न लगें और अपने संगठन को सुदृढ़ न बनावें। पुस्तक में राजनीतिक दृष्टि से आर्यसमाज की गति-विधि पर विचार नहीं किया गया है। इसी लिये प्रस्तावना में इस विषय की इतनी विस्तृत विवेचना करके स्थाली-पुलाक न्याय से यह दिखाने का यत्न किया गया है कि आर्यसमाज किस ओर जा रहा है? आर्यसमाजी भाई विशेषतः, आर्यसमाज के नेता और कार्यकर्ता, यदि इसको सहृदय दृष्टि से पढ़ेंगे और इस सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करेंगे, तो इसके लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक सभी का परिश्रम सार्थक हो जायगा।

राजपुर (देहरादून)
२० नवम्बर १९३५

—सत्यदेव विद्यालंकार

* ओ३म् *

आर्य्य समाज किधर ?

विषय प्रवेश

गुरुकुलों का आर्ष स्वरूप

हम कहते हैं—

"हमने सत्य का संदेश संसार को सुनाया। हमारा साहित्य विश्वलायब्रेरी में अमर रहेगा।"

हमने सत्य का संदेश सुना दिया और दुनिया ने सुन लिया शायद पालन की न हमें जरूरत न श्रोताओं को !! हम पत्रों में पढ़ते हैं। "**आर्यसमाज मर चुका**" फ़िलासफरों का मज़हब ही जो ठहरा !! नवीन वेदान्त की भी तो सत्ता ढूंढने से कम ही मिलती है ! क्रियात्मक को आजकल कोई नहीं पूछता ! विचार मात्र ही पर्याप्त है ! चीन जापान के बौद्धधर्म में भी तो अब "**अहिंसा परमो धर्मः**" का विचार ही अवशिष्ट है !!!

ईसा के एक भक्त ने कोढ़ियों के ज़ख्मों को चूस कर सहस्रों ईसाई बनाये। भ्रममूलक ईसाई मत के अनेक भक्त अविदित देशों में-आधार, केन्द्र और आश्रय विहीन स्थानों में-जा पड़े। चुपके चुपके, धीरे धीरे

ठोस कार्य करते रहे। उनको वेतन देने के लिये मिशन कम्पनियां नहीं बनी थीं। रात को सोने और व्याख्यान झाड़ने के लिये गिरजाघर भी न बने थे। उन बेचारों को सफ़र खर्च के लिये चार पैसे देनेवाला भी कोई न था। वह सेवा का धर्म था फ़िलासफ़ी का नहीं। परन्तु हम दार्शनिक महानुभावों को सब से पहले नौकरी मिले, फिर सफ़र खर्च के लिये नकद नारायण और आराम करने के लिये चूने से पुता हुआ समाज का भव्य मन्दिर; तब हम दल बल सहित चलेंगे, कहते हुये—"**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**"। यह है मृत्यु शैया पर पड़े हुये हमारे मुर्दे को पुकार! यह है हमारी वेद में अनन्य श्रद्धा! जिसे आज की चिन्ता है—**मैं क्या खाऊंगा? कहां ठहरूंगा?** वह कहता है—"**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**।"

बौद्धमत ने प्रचार के नवीन मार्ग का आविष्कार किया था। उस आविष्कार में प्रकृति के नियम पर बलात्कार करने से त्याग और तप की कुछ कलायें नष्ट हो गई थीं। ईसाई मत ने उक्त मार्ग का अनुकरण किया। उसे भी प्रकृति के नियम पर बलात्कार करने की सूझी, जिससे तप और त्याग की कुछ और कलायें लुप्त हो गईं। पूंजीपतियों के हाथों में प्रचार कार्य आने से ईसाई मत अभिनयशाला का विषय बन गया; क्योंकि **धर्मप्रचार ब्राह्मण और क्षत्रिय के ज्ञान और तेज का प्रवाह है, बनिये का व्यापार नहीं।**

समझ में नहीं आता चरित्र के बिना सूखी फ़िलासफ़ी हमारा क्या कल्याण करेगी? त्याग और तप के बिना हमारा चरित्र कैसे बन जायगा? अतीत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि **त्याग और तप के भग्नावशेषों पर भ्रम मूलक मत मतान्तरों को विशाल अट्टालिकायें**

धर्मों और इसी त्याग तप के सिर पर पादप्रहार करने से वैदिक दिवाकर अस्त हो गया। अस्तेय और **अपरिग्रह** की अवहेलना करके संग्रहीत किये हुये कुछ सोने के टुकड़ों का, नाम कमाने के लिये दान करने से त्याग नहीं होता। **त्याग होगा, इन्द्रियों के विषयों का निरोध करने से, विषयों का निरोध होगा प्रकृति धर्म का पालन करने पर। प्रकृति धर्म का पालन करने की सम्भावना होगी मनुष्यकृत अताब और नूतन भौतिक उन्नति को खैरवाद कहने से।**

चाहने को तो सभी चाहते हैं कि परम पद मिले। व्यभिचार से जर्जरित चाहता है **ऋषिदयानन्द** के समान आदित्य ब्रह्मचारी बनना; भोगों को वह भोगता रहे किन्तु वीर्य अक्षय ही रहे। नित मांस खाने वाले की इच्छा है कि उसके इशारे मात्र से वनके भयानक सिंह और सरल मृग उसकी गोद में आ बैठें। कपटी व विश्वासघाती की भी यही मनोकामना है कि जिसे वह कहदे "**तू धर्मात्मा हो जा**" वह धर्मात्मा बन ही जावे। यह तो हमारी महत्वाकांक्षायें हैं। कल्पित मनसूबे हैं।

गुरुकुल का स्नातक हिन्दू राज्य के पतन का कारण, मुसलमानों की उन्नति का मूल जानता है, आवागमन के रहस्य और इतर धर्मों के पाखण्ड को समझता है। मुगल साम्राज्य क्यों नष्ट हुआ तथा अंग्रेजों ने कैसे राज्य प्राप्त किया, यह भी वह जानता है। किस मार्ग का अवलम्बन करने से हिन्दू अपने देश पर काबिज रह सकते थे और अंग्रेजों की जड़ें यहां न जमतीं, यह भी उसे मालूम है परन्तु अपनी आजीविका कैसे उपार्जन करे, यह स्नातक को नहीं आता। कैसी विडम्बना है? प्रलय से प्रलय तक का रहस्य जानने वाला दार्शनिक स्नातक अपने निर्वाह के लिये चिन्तित है।

स्वावलम्बन का अमृत पीकर भी स्नातक को यह व्याधि लगी। यदि संरक्षक का पता न हो तो इस अन्धकारमय लोक में स्नातक को जाने का मार्ग नहीं सूझता। कहां जावे जहां उसे भोजन मिले।........कैसा वैचित्र्य होता यदि स्नातक कुलभूमि से दीक्षित होकर चारों दिशा में पैदल चल पड़ते। रेल के स्टेशन को न ढूंढ कर आधुनिक जैन साधुओं की तरह यात्री बना करते। रास्ते के ग्रामों में, शिव मन्दिर में, मेहतरों के कुँये पर या मुखिया की चौपाल में आसन जमा देते। सच्चे सीधे शब्दों में गांव वालों को कर्म योग, ईश्वर निष्ठा और यम नियम का उपदेश देते। चने, दूध, सत्तू, रूखा सूखा जो मिल जाता खा लेते। यों "**शंयोरभिस्रवन्तु नः**" कह कर शीतल जल पीकर सो जाते। परन्तु ऐसा होवे क्यों ? स्नातक को बौद्ध कालीन भिक्षुओं की तरह अलक्षित भाव से यात्रा करना किसने सिखाया है ?

नीम में निबोली ही फलती है, आम नहीं। प्याज़ में हाथ रगड़ने से दुर्गन्ध ही आती है, सुगन्ध नहीं।

हमें तो ईसाई मत की पतलून पर अपना पीत पट बांधना है। उसकी पटरी पर इंजन दौड़ाना है। पच्छिमी विकास को वैदिक प्रमाणित करना है और "**भारतीयता**" धातु को कूट पीट कर मग़रबी अलंकार बनाना है। प्राचीन जंगलीपन में अब कोई महत्व नहीं रहा। वह केवल कविता का विषय रह गया है।

अहो! मद्य-माँस और प्याज़ के खाने वाला इस धुन में है कि किसी तरह उसके पसीने में चन्दन की महक आने लगे।

यदि बालबच्चेदार वेतनभोगी गृहस्थ, धर्म का प्रचार करने के लिये उपयुक्त पात्र होते तो वानप्रस्थ व सन्यास आश्रम की रचना करके क्यों

विचारों को इन्द्रियों के भोगों से महरूम किया जाता ? यदि हारमोनियम वालों को वेतन देकर रसीद बहियों द्वारा चन्दा वसूल करने से वैदिक दुंदभी बज सकती तो आर्ष काल में गृहस्थ ब्राह्मण नगरों से दूर वन में बसने का पागलपन न करते। गौ चराते चराते भी कहीं दर्शन और वेदांग पढ़ाया जा सकता है ? "जो **कुछ उत्पन्न करो उसका पहला भाग यज्ञ को, ब्राह्मण को दो।**" इस रूढ़ि मे भोले बनियों को, किसानों को न बांधा गया होता।

हमने जो "**चन्दा पन्थ**" बना कर '**वेतनभोगी**' सम्प्रदाय चलाया है इसे वैदिक संस्कृति नहीं सहन कर सकती। हमारा यह पुनीत प्रयत्न वैदिक आदर्श को तो निस्तेज कर ही रहा है, पर यह इन **तनख्वाहदार उपदेशकों** का जीवन बुरी तरह संशयात्मक बना रहा है। यह **वेदनिष्ठ** न बन कर **धनीश्वरनिष्ठ** होते जा रहे हैं। सिद्धान्त की अपेक्षा कटु-अनुभव ही इनका पथ-प्रदर्शक बन रहा है। इन पर तो रहम करो।

धन "भी" धर्म प्रचार में सहायक हो सकता है। परन्तु कौन सा धन ? रुपया मनुष्य कृत धन है—धन का साधन है। धन वह है जिस के बिना पार्थिव शरीर नष्ट हो जावे। शरीर नष्ट होगा अन्न के बिना। बस यह **अन्न** ही वास्तविक धन है और यह धन "भी" धर्म प्रचार में सहायक हो सकता है।

यदि सोना चाँदी धन होता तो हमारी सार्वजनिक व्यवस्था में दूध, घी, अन्न, फलादि के बजाय पैसा-दान की प्रथा डाली गई होती, मुद्रा का आविष्कार हुये सहस्रों वर्ष हो गये। सोना चांदी तो अस्तेय अपरिग्रह के नियमानुसार आचरण करने वाले कतिपय धर्मात्मा पूंजीपतियों की कभी कभी यज्ञों में 'धनस्पर्श' आहुतियें

थीं परन्तु नैतिक कार्य उनका भी वही उपरोक्त अन्न, धन, देना था। यदि वह स्वर्ण धन महान् होता—जो वेद की वाणी में धर्म पर आवरण डालने वाला है, जिसमें परीक्षित ने कलि को आश्रय देकर ऋषि का अपमान किया था तो "भवती भिक्षां देहि" की पुकार पर ब्रह्मचारी को अन्न के बजाय पैसे मिला करते।

यह धन है जो "कृण्वन्तो विश्वमार्यम" को सिद्ध करेगा। और यह मिलेगा ग़रीब किसानों की स्त्रियों के हाथ से। वहां है सच्ची श्रद्धा, अनन्य भक्ति, जो, छद्मवेशी धूर्तों को भी अपने भोलेपन के कारण सच्चा साधु समझ, सीता की तरह अंजली बांधे खड़ी रहती है। नागरिक महिलाओं की श्रद्धा तो सुकुमारता तक ही परिमित है।

धन वाले नाम के लिये पैसा देते हैं,धर्म के लिये नहीं। यदि धर्म के लिये देते तो उनकी शानदार भोजनशाला में किसी अभ्यागत को नित्य भोजन मिला करता। अतिथि की कौन कहे, कभी कभी तो संन्यासी तथा उपदेशक को भी भोजनार्थ नमस्ते ही नसीब होती है मगर १०००) का पत्थर नाम को लिये आर्यसमाज व गुरुकुल के भव्य मन्दिर में शान से चमक रहा है। जिसमें नाम ही न हो वह पुण्य किस काम का ? आज कल बलिवैश्य देवयज्ञ में अपनी ५ रोटियों का अपव्यय कौन करे ? न प्रतिष्ठा न ख्याति !

अग्नि में पड़कर दुर्गन्ध भस्म हो जाती है। जल में पड़कर तो वह जल को ही सड़ायेगी। **भगवान दयानन्द** की तेजोमय अग्नि में पड़कर यम नियमों के प्रतिकूल कमाया हुआ पूंजी-पतियों का पैसा कुन्दन बन सकता था। किन्तु हम आर्यसमाजियों के चन्दापन्थ में जाकर वह रक्त से सना हुआ धन बुरी तरह सड़न पैदा कर रहा है।

यदि हमें हिन्दू जाति की कुत्सित रूढ़ियों को नष्ट करके छुआ छूत जात-पांत आदि को ठीक करना ही अभीष्ट है तो हम वैसा करें और अवश्य करें किन्तु इसे परमात्मा के वास्ते वेद प्रचार की संज्ञा तो न दें। **कुम्हार और ठठेरे का काम भी तो राष्ट्र के लिये जरूरी है परन्तु उसे वेदप्रचार नहीं कहा जा सकता।**

गद्दीधारी महंतों व मंदिरों की गुप्त भीषणता तथा विलासिता की हम खिल्ली उड़ाते हैं। आर्यसमाज के समान कभी इन गद्दियों का भी उद्देश्य महान् था किन्तु भौतिक धन (सोना चांदी) की कृपा से विलासिता, इन्द्रिय लोलुपता व गुरुडम का बोलबाला होगया। उक्त पिशाचों के आने पर "**महान् उद्देश्य**" कब टिक सकता था? यदि इन गद्दीधारी महंतों को सोना चांदी के बजाय गउयें, घी, दूध, अन्न ही मिला करते तो उन गद्दियों पर व्यभिचार और विलासिता की इतनी मक्खियें न भिनकतीं।

गोभक्तों की गवर्नमेंट ने व्यापारिक दृष्टि से गोशाला खोलकर धर्म के दूने कर लिये किन्तु गोभक्त आर्य-समाज से आविष्कृत दफ्तरी गोशालाओं ने "ला चन्दा, दे चन्दा" की रट लगाकर भी साढ़ेतीन गऊओं की संख्या चार न की। गोशाला के प्लेटफार्म पर एक मुसलमान ने बड़ा अच्छा व्यंग किया था कि यह गोशालायें नहीं गऊओं के वानप्रस्थ आश्रम हैं। जिधर देखो विधवा आश्रम, यतीमखाने, गोशालायें सब प्राचीन सभ्यता के नमूने! सब पैसा पैसा की ध्वनि में मग्न हैं। अपने खर्च से कई गुना कमा कर देने वाली गौ के लिये भी चन्दा!! वेदों में अनेक देवताओं का वर्णन है पर हम आर्यों ने "चन्दा" देवता की और रचना कर डाली।

विश्वास तो नहीं होता कि किसी वेश्या के अपरिमित धन से **सेवा सदन** खोला जाकर वेश्याओं का उद्धार और व्यभिचार का निर्मूलन होगा, वे सद् ग्रहललनायें बन जावेंगी। उसी प्रकार चोरी और हिंसा से प्राप्त किया धन क्या कल्याण करेगा ? ऐसे धन की गति तो केवल अग्नि संस्कार है। फिर भी धनपतियो ! यदि तुम्हें अपना धन लगाना ही है तो उसे हिन्दू जाति की कुरीतियों के नाश में लगाओ। अछूतों को उठाओ और राष्ट्र का निर्माण करो। दया करके हिंसा, स्तेय से प्राप्त इस धन की इस परम पवित्र अहिंसामय वेद प्रचार यज्ञ में आहुति मत दो। भगवान तुम्हारा कल्याण करेगा। **ऋषि दयानन्द** पर और उसके लगाये अमृत वृक्ष पर दया करो।

कौन कहे ? हम कैसे कहें कि हे धनपतियो ! तुम हिंसा और तेज से लिप्त धन संचय की इस प्रवृत्ति को त्याग दो ? हम में वह तेज कहां है, जो हम कहें और तुम सुनलो ? तुम्हें आदेश कर सकें और तुम आँख मीच कर उसे मानलो, ऐसे तपस्वियों की तो अभी काश्त ही शुरू नहीं हुई !

हम बहुत आगे बढ़ गये हैं। अब हमें पीछे हटना चाहिये। भगवान् राम का अग्रगमन राक्षसों की लंका तक ही हुआ था, जहां रावण की पाप के सोने की नगरी थी, जहां देवताओं को लूट कर लाया हुआ धन था, मेघनाद जैसे कुचक्रियों ने इन्द्राणी का अपमान किया था और जहां लम्पट रावण सीता को हरण करके ले गया था, यद्यपि हम आर्यसमाजियों की अपेक्षा वह लंकेश वेदों का कहीं प्रकाण्डतर पण्डित था। वहां, उस सोने की लंका में तो "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं" सत्य का मुख ढंका हुआ था। वहां, वेदों का रहस्य वेदों का

पण्डित रावण भी नहीं जानता था। वहां से आगे जाने में राम के सर्वनाश का भय था। वहां ज़रूरत थी "**पीछे हटूं**"। राम पीछे हटकर आयोध्या वापस आ गये। आओ! हम भी भौतिक उन्नति की स्वर्ण लंका से लौट चलें! जहां वेदों का पण्डित विचलित हो गया वहां हम अछूते रह सकेंगे? बस उस राम की अयोध्या को लौट चलें जिसने हँसते हँसते दो विशाल राज्य प्राप्त करके दान कर दिये थे।

सोचो तो, राम, लखन और सीता के निर्वाह के लिये कौन सहायता देता था? वे क्या खाते थे? पूरे १४ वर्ष की अवधि थी। वे तो क्षत्रिय थे दान भी न लेते होंगे। जहां रेल, तार, सड़कें न थीं उन बीहड़ वनों में ऋषि, मुनि, वनवासी ब्राह्मण क्या खाते थे? सत्यवान सावित्री ने चार प्राणियों के लिये कौनसा पेशा कर रक्खा था? शायद कोई कहे, तब हमारा राज्य था, एक एक कुलपति के पास दस हज़ार गउयें थीं। अब वैसा होना असम्भव है। असम्भव तो कभी गुरुकुल भी था। असम्भव वही है जिसे हम करना नहीं चाहते। यदि महर्षि **दयानन्द** की "गोकरुणानिधि" का तखमीना अटकल का घोड़ा नहीं है तो "गोकरुणानिधि" के तखमीने के अनुसार गुरुकुलों के उस धन से जो केवल शानदार इमारतों में ही लुटाया गया है, **पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार गउयें तैयार हो जातीं**।

आर्ष संस्कृति के प्रेमियो! यदि हमारा निर्भ्रम सच्चा विश्वास है कि भरत ने राम सीता के लिये कोई रमणीक सुन्दर बंगला नहीं बनाया था। मिलेरिया आदि से बचने के लिये कौशल्या, सुमित्रा ने कोई प्रबन्ध नहीं किया था। सेवक सेविकायें व अन्नादि कुछ भी तीन प्राणियों के लिये अयोध्या से नहीं भेजे गये थे। यदि हमें विश्वास है कि पञ्च

पाण्डवों ने अपने चचा विदुर आदि के लिये आधुनिक **वानप्रस्थ आश्रम** जैसा सुन्दर महल नहीं बनाया था तो आओ ! उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि में वर्णित ऋषि-मुनियों के आश्रम के समान "आर्ष गुरुकुल" **जंगली गुरुकुल** बनावें । केवल परीक्षण के लिये खोल देखें । नहीं, परीक्षण करने की हममें शक्ति नहीं । तब अनुकरण ही कर देखें । शायद हम अनुकरण करने लायक भी नहीं रहे । तो **दयानन्द** की अक्षर-अक्षर आज्ञा का पालन ही करें । हम **भगवान कृष्ण** की आज्ञा से "कर्मण्येवाधिकारास्ते मा फलेषु कदाचन" के उद्देश्य को न लेकर केवल "भगवान दयानन्द का आदेश है" इस भित्ति पर एक आर्ष कुल खोलें **जो न शुल्क ले न दान**।

प्रत्येक देश की गवर्नमेंट "चिड़िया घर" और "अजायब घर" पर लाखों रुपये व्यय करती है, जो उस गवर्नमेंट को न आर्थिक लाभ पहुंचाते हैं और न राज्यवृद्धि, न राज्य रक्षा करते हैं ।अतः "कृण्वन्तोविश्वमार्यम्" के व्रतपतियो ! आओ, हम आर्यकाल का एक "अजायब घर" **ऋषि दयानन्द** की आज्ञा से ही बना डालें । उसने तो अपने गुरुदेव को सर्वस्व दिया हम इतना ही त्याग करें । आनन्दकन्द भगवान **दयानन्द** की पुण्य स्मृति घट घट व्यापक है. वे हमें बल देंगे । सब **यज्ञों** का कल्याण करने वाले शिव हमारे यज्ञ के ब्रह्मा बनेंगे । प्रकृति माता के स्तनों का दूध पी कर यह "**जंगली गुरुकुल**" फूले फलेगा । आर्यसमाज की शक्ति का शोषण करने वाली संस्थाओं ने प्रचार धारा को सुखा डाला परन्तु यह "कुल" गौ (पृथ्वी) से रस (अन्न) लेकर गौ (गाय) के अमृत (दूध) पर जीयेगा । शोषण न करके पोषण करेगा । **उपनिषद मण्डल वनों में ही होने चाहिये, देहली**

और लाहौर जैसे नगरों में नहीं, ये स्थान तो व्यापारियों, शासकों तथा जड़ वादियों के क्रीड़ा केन्द्र हैं। बौद्ध भिक्षुओं की तरह यह "कुल" आदि वानप्रस्थियों, वनवासी गृहस्थ ब्राह्मणों का "विहार" बनेगा जहाँ उन्हें अन्न, दूध और फल मिलेंगे।

भगवान कृष्ण के शब्दों में "**शरीर यात्रा चल सके**" उतना उपार्जन करना ही आदर्श है। किन्तु जहां आजीविका के सब पवित्र साधन नष्ट हो चुके हों, सब मार्ग बन्द कर दिये गये हों—जहां छल कपट से भी निर्वाह समस्या जटिल हो रही हो वहां आदर्श हित न सही, बेबसी से ही "**निर्वाह मात्र**" पर आ जाना समझदारी है।

इतिहासज्ञों से छिपा नहीं है कि बौद्धकाल में क्या वेष भूषा थी? उस समय के धनाढ्य तक घुटने तक धोती बांधते थे। स्त्रियां तक सिले वस्त्र न पहनती थीं। अभी कल तक हमारे बालक लंगोटी लगाते थे और खाते थे दूध, दही, घी जौ, धान आदि। हरएक भिक्षु था अनुभवी कुशल वैद्य। आज भी उस प्राचीन पद्धति का चिन्ह शेष है कि प्रत्येक साधु किसी औषधि को जानता ही है। स्वर्ण से भरपूर दूध की प्याऊ वाले चन्द्रगुप्त के राज्य में जब भारतवासी केवल धोती पटका बांधते थे, तब इस घोर दुर्भिक्ष पीड़ित भारत में लंगोटी भी अपव्यय है।

देश की स्वतन्त्रता के लिये, मानव चरित्र की रचना के निमित्त, वेद भगवान 'क्रांति महायज्ञ" में नरबलि मांग रहा है—'दान' और 'दक्षिणा' के लिये चिल्ला रहा है, आत्म हत्याओं से काम न चलेगा। नरबलि चाहिये, नरों की जो मूक जीवन व्यतीत करने वाले नरपशुओं को बलिवेदी तक खींच लावें। दैनिक अण्डा देने वाली मुर्गी (अखबारी हलचल) के द्वारा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का काम पूरा न होगा। इसके

लिये तो सर्वं वै पूर्णऽस्वाहा कह कर ही समुद्र-मन्थन करना होगा। तभी रत्न हाथ लगेंगे। आओ! **भगवान दयानन्द** की तपस्या को मनुष्य मात्र का अलंकार बना दें। यह प्रदर्शिनी में रखने की चीज़ नहीं है। हमारे पुरखाओं ने **भगवान बुद्ध** की तपस्या को नुमायशगाह में क़ैद कर दिया जानते हो उसकी कैसी दुर्दशा हो रही है? हम तो ऐसे क्रूर न बनें।

गुरुकुलों ने उन्नति, विकास और सफलता का विचित्र अर्थ किया। बनियापन, शोहरत, इश्तहारबाज़ी व प्रदर्शन ही उनका मूल मन्त्र बना रहा। चाय की कम्पनी की तरह पैसे की मन्डी में प्रदर्शन करना उन्होंने अपना महान उद्देश्य बना लिया। जो गोपनीय थी, सुन्दर बन में, जगली पन के (प्राकृतिक) रूप में गढ़ी जाने योग्य थी वह स्नातक मूर्ति चौक बाज़ार में ढाली जाने लगी।

स्नातक गुरुकुल के नक़्शे हैं। यदि स्नातकों से संतोष नहीं तो गुरुकुल को बदल दो। ये **जंगल से नगर** बनना चाहते हैं। अब आर्षकाल की पद्धति का अक्षर-अक्षर अनुकरण कर के बौद्ध कालीन भिक्षुओं के "विहारों" के समान 'आर्षकुल' बनाओ, जिसमें 'विद्यालय' 'आश्रम' आदि के भव्य कमरों, बेरकों के बजाय गउयें, वृक्षों की शीतल छाया, बड़े बड़े बाग पर्णकुटियें हों। कोपीनधारी गुरु और शिष्य हों। कच्चे अन्न, दूध फल भोजन हों। कटिवस्त्र धारिणी कुलमातायें हों। गुरुकुल 'कुल' (कुटुम्ब) हो न कि वेतन भोगियों का कारखाना। कुलपति वानप्रस्थ, स्त्री पुरुष, वनवासी, गृहस्थ दम्पति, बालक व कन्यायें इस 'कुल' (कुटुम्ब) के अवैतनिक समान प्राणी हों। १० वर्ष तक के बालक बालिका साथ पढ़ें। पढ़ावें कुल मातायें। किन्तु बालक बालिकाओं के आश्रम (Boarding) पृथक्-पृथक् हों।

कुल वासी प्रबन्धक व शिक्षक स्वयं तपस्वी बने और बालकों को बनायें। अपनी आवश्यकताओं को इतना कम कर लें जिससे आगे न्यून करने से भौतिक शरीर के क्षय की सम्भावना हो।

काग़ज़, पुस्तक, नमक और लोह क्रय करने के लिये 'मुद्रा' की तलाश करनी पड़े। शेष सब "कुल" में उत्पन्न हों। सब इस कुल के आजीवन सदस्य हों। खेती, गोपालन, बाग़ात, सूत कातना, कपड़ा बुनना आजीविका के साधन हों। हाथ और पत्तों पर भोजन करें। जिनके कारण चोर का भय हो और जिनके लिये मुद्रा की आवश्यकता हो ऐसी वस्तुओं को घटा कर शून्य तक पहुंचादें। स्वावलम्बन का यही सर्वोत्तम दार्शनिक साधन है। **अपनी आवश्यकताओं को सर्वथा घटा देने वाला ही कर्मयोगी है। अपने लिये जिसे कुछ नहीं चाहिये वही दूसरों के लिये सब कुछ कर सकता है।**

ऐसे "आर्षकुल" ही वैदिकधर्म के "विहार"–"केन्द्र" हो सकेंगे। इन कुलों के स्नातक व स्नातिकायें दूसरी दुनियां की चीज़ होंगी, जो रेल स्टेशन को न ढूंढ कर अपने अपने झोलों में औषधि भरकर बौद्ध भिक्षुओं की तरह वैद्य उपदेशक के रूप में सपत्नीक और कभी कभी अकेले प्रकाश रश्मियों की तरह चारों दिशा में धावा करेंगे। ग्रीष्मावकाश, रविवार, पूर्णिमा अमावस्या तथा अन्यान्य पर्व तिथियों पर यह त्यागी तपस्वी कुल कुटुम्बी अपने ब्रह्मचारी और कन्याओं के साथ दस कोस तक "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नाद किया करेंगे। उन्हें न वेतन की ज़रूरत होगी, न रसीद बहियों की। आर्य समाज मंदिर और प्रतिनिधि की विशाल इमारतों के गवर्नमेंट द्वारा छीने जाने या भूचाल द्वारा भूगर्भ में पहुंचने से भी इन के प्रचार कार्य में कोई बाधा न होगी।

हमारा आदर्श

(क) यम और संस्कार

सब बालक सामान नहीं होते। जहां इनके शरीर स्वास्थ्य बल और बुद्धि की कुशाग्रता में विषमता होती है वहां उनके ईर्ष्या, द्वेष, रागादि में भी न्यूनाधिक्य होता है किन्तु असत्य भाषण, स्तेय, हिंसा, ब्रह्मचर्य नाश की प्रवृत्ति किसी बालक में नहीं होती। सत्य मानना और सत्य करना ज्ञान पर अवलम्बित है किन्तु सत्य भाषण बालक के लिये ऐसा स्थूल नैसर्गिक नियम है कि उसे वह बिना किसी शिक्षा के स्वतः ही श्वासोच्छ्वास की तरह पालन करने लग जाता है। उसी प्रकार स्तेय, हिंसा, ब्रह्मचर्य नाश की ओर उसका ध्यान ही नहीं होता। पंच यम प्रकृति के स्थूलतम सरल नियम हैं।

(१) जो "है" वही जानो। जो जानो वही करो तथा कहो। (सत्य)
(२) किसी को दुख मत दो। (अहिंसा)
(३) व्यर्थ मत लो। (अपरिग्रह)
(४) अपनी क्षति मत करो। (ब्रह्मचर्य)
(५) जो दूसरे ने प्राप्त किया है उसे न छीनो न चुराओ। (अस्तेय)

बालक उपर्युक्त पंच नियमों का स्वभावतः पालन करता है किंतु ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के संस्कार न्यूनाधिक्य-रूप में राग-द्वेष की वृद्धि के

कारण अनृत कर्म की ओर आकर्षित किया करते हैं और तभी उपर्युक्त पंच यमों के साथ व्यभिचार होने लगता है। कुछ तो बालक संरक्षकों के कृत्यों को देख कर, कुछ उनके आदेश से तथा अन्त में अपनी ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में बाधा पड़ने से पंचयमों को भंग करने लग जाता है, और पंचयमों का भंग ही अनृत कर्म है।

(१) बालक जो करना चाहता है उसे उससे रोकने से वह मिथ्या भाषण का आश्रय लेता है।

(२) बालक जो चाहता है उसके न मिलने से चोरी करता है।

(३) बालक अपने अभिलाषित कार्य की पूर्ति में बाधा देने वाले के प्रति परोक्ष वा प्रत्यक्ष हिंसा भाव उत्पन्न कर लेता है।

(४) पंच-ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के रस से परिचित होकर वह उनमें ही तल्लीन रह कर अपना क्षय करने लगता है।

(५) उक्त मनों के साधनों को अपरिमित रूप में संग्रह करने की इच्छा से वह दूसरों को उनकी नैसर्गिक आवश्यकताओं से भी वंचित करने का प्रयत्न करता है

यही पांच यमों के साथ व्यभिचार है।

बालक अपनी 'चाह' को माता के पेट से नहीं लाता। पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को जान कर ही वह अपने जन्मान्तर के संस्कारों के वश उनमें न्यूनाधिक रूप से चाह स्थिर करता है। शान्ति पर्व में महात्मा भीष्म ने कहा है—

"विज्ञायार्थं हि पञ्चनामिच्छापूर्वं प्रवर्तते। प्राप्य तान जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ ॥ ततस्तदर्थं यतते कर्मचारभते महत्। इष्टानां रूपगन्धानाम-

भ्यासंच चिकीर्षति ॥ ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदन्तरम् । ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदन्तरम् ॥" शान्तिपर्व । अध्याय २७२ । ३.५

अतः जो बात बालक के लिये हेय है, उससे अनभिज्ञ रखना ही ब्रह्मचारी के हृदय में उस विषय की 'चाह' उत्पन्न न होने देने की महान युक्ति है । जिसे वह जानता नहीं उसे प्राप्त करने की वह इच्छा न करेगा। जब वह इच्छा ही न करेगा तब उसे उस कार्य के करने से रोकने की आवश्यकता ही न होगी और जब उसे कोई रोकेगा ही नहीं तब उसे चोरी से कार्य करने तथा मिथ्या बोलने की आयोजना ही न करनी पड़ेगी । अतः कारण न होने पर कार्य मूर्त्त रूप ही नहीं होगा। इसी प्रकार, हिंसा, परिग्रह आदि के भावों का जन्म हो नहीं हो सकता।

यमों का पालन करना, जो प्रकृति के स्थूल नैसर्गिक नियम हैं एक सहज कार्य है, यह हम ऊपर प्रमाणित कर चुके हैं किन्तु इस माया के बहु रूपों से कैसे बचें ? इस प्रकृति के पांच विषय (रस, रूप, गंध, शब्द और स्पर्श) तो धीर वीर जितेन्द्रियों को भी चंचल कर देते हैं । फिर उनकी क्या सामर्थ्य है जो जन्मान्तर के कुसंस्कारों को लेकर आये हैं; जिनकी प्रवृत्ति, इन्द्रिय विषयों में ही जन्मान्तर से भयानक रूप से दांत गड़ाये बैठी है । इस माया पति की माया ने तो संतों को भी डांवाडोल कर दिया है, "रमैया तेरी माया दुंद मचावै" इत्यादि ।

उपर्युक्त बाधा भयानक है तथा विचारणीय भी है । प्रकृति के मोहमय आकर्षण के विषय में हमारे सामने तीन बातें आती हैं ।

(१) क्या माया (प्रकृति) को परमात्मा ने मनुष्यों को भ्रम में फंसाये रखने के लिये ही मोहक बनाया है ताकि मनुष्य इसके मोहजाल में उलझा रहे ?

(२) क्या प्रकृति का मोहमयरूप मोक्ष प्राप्ति की परीक्षा का विषय है ?

(३) क्या प्रकृति स्वभावतः मोहक है ?

मंगलमय भगवान्, जो हमारे सच्चे पिता मित्र और हितैषी हैं, प्रकृति को मोहमय क्यों बनाते ? वे तो हमारा अत्यन्त कल्याण चाहते हैं। यदि भगवान् की कोई इच्छा है तो यही कि हम मोक्ष प्राप्त करें। पिता तो सदा ही पुत्र के लिये मार्ग को सरल बनाता है न कि जटिल। पुत्र को पिता के पास पहुँचना है। पुत्र के लिये उस अन्तर को पूर्ण करना ही यथेष्ट पुरुषार्थ है जो उसके (पुत्र के) और पिता के बीच में है। बालक दुग्धपान के लिये माता के पास दौड़ कर जाता है किन्तु वह खड़ी हुई मां की छातियों तक नहीं पहुँच सकता। तब बालक करुण दृष्टि से मां को देखता है। मां बालक की असमर्थता से आर्द्र होकर उसे उठाकर हृदय से लगा लेती है। बालक का पुरुषार्थ मां के चरणों तक पहुँचने पर समाप्त हो जाता है। बाद में तो माता की दया ही काम करती है। जो माता बालक को बिना उसके पुरुषार्थ के अपने चरणों से उठाकर हृदय से लगा लेती है, दूर से दौड़ते हुये बालक के मार्ग में ऐसी वस्तु डालेगी जिसके मोह मे पड़ कर बालक पयःपान को ही भूल जावे ? जगज्जननी तो हमें अपने पास बुलाना चाहती है ताकि हम उसके हृदय का अमृतपान करें। वह तो यहां तक स्नेहमयी है कि जब हमारी शक्ति समाप्त हो जाती है तब वह स्वयं आगे बढ़ कर हमें उठा कर अमृत पिलाती है। जो विश्वमाता बिना हमारे पुरुषार्थ के केवल हमारी असमर्थता से आर्द्र होकर हमें चरणों से उठाकर हृदय से लगा लेती है वह जगदम्बा हमारे मार्ग में माया के–प्रकृति के मोहमय कांटे, बाधायें नहीं बखेर सकती।

(२) तो फिर यह माया मोह के कांटे केवल परीक्षा का विषय है ? यह बात भी न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती । व्यायामशाला में जब कोई व्यायाम सीखा जाता है तब वहां का स्थान साफ़ कर दिया जाता है ताकि व्यायाम करने वाले को कष्ट न हो । यहीं तक नहीं उस स्थान को सुखद बनाने के लिये वहां घास रेत आदि तक बिछा दिये जाते हैं । **शरीर की साधना हो पुरुषार्थ तथा परीक्षा का विषय है न कि कांटे कंकरों को हटा कर साधना करना** । दूसरे विघ्न बाधाओं के साथ युद्ध करने की शिक्षा और अभ्यास तथा उसमें सफलता प्राप्त करने की आवश्यकता तो तब होती है जब कहीं दूसरे स्थान पर वैसी विघ्न बाधाओं से मोरचा लेने की सम्भावना हो । सेना का अश्वारोही खाई कूदने का इसलिये अभ्यास करता है जिससे वह आगे खाई कूद सके । अश्वारोही भी घोड़े की परीक्षा इसीलिये लेता है ताकि वह जान ले कि घोड़ा भविष्य में, यदि आवश्यकता पड़ी तो खाई कूद जायगा वा नहीं किन्तु मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् तो जीव को किसी भी माया रूपी खाई को कूदने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। कोई भी परीक्षक ऐसे विषय की परीक्षा नहीं लेता जो परीक्षा उत्तीर्ण व्यक्ति के भावी जीवन के लिये न तो आवश्यक ही हो और न उसका भावी जीवन में उपस्थित होना सम्भव ही हो । मुक्त जीव को माया मोह से जब सरोकार ही न रहेगा तब इस माया-मोह रूपी बाधा को उत्तीर्ण करने का अभ्यास करना तथा उसके भेदन करने की सामर्थ्य शक्ति को जानना युक्ति युक्त नहीं । अतः माया मोह मुक्ति की परीक्षा का विषय नहीं ।

(३) तब क्या प्रकृति स्वतः मोहक है ?

प्रभु का विकासवाद इतना शुद्ध, स्वच्छ व प्राञ्जल है कि माया हमें

लेशमात्र भी विमोहित नहीं करती। वेद ने प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणं अदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रा मनागसो अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ ऋ० १०, ६३, १०। यजु० २१, ६। अथ० ७, ६, ३।

जो माया (सुत्रामाणं) ठीक ठीक रक्षा करने वाली (पृथिवीं) विस्तृत आश्रय देने वाली (द्यां) ज्ञान प्रकाश करने वाली (अनेहसं) कभी हानि नहीं पहुँचाने वाली (सुशर्माण) उत्तम सुखदात्री (सुप्रणीतिं) श्रेष्ठ मार्ग से ले जाने वाली (स्वरित्रां) उत्तम पतवारों वाली (अस्रवन्ति) कभी न चूने वाली, छिद्र त्रुटि रहित (अदितिं दैवीं नावं) दिव्य नौका के रूप में जो अखण्डित प्रकृति है। क्या वह हमें मोह में लिप्त कर सकती है, वह तो बड़ी पवित्र है। (दैवीं नावं) दिव्य नौका पर तो हम (अनागसः) निष्पाप होते हुये (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आरुहेम) चढ़ें

हम विद्वानों, ऋषियों तक की वाणी को भ्रांत कह सकते हैं किन्तु भगवान् की भगवती वाणी वेद में तो हमें संशय हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त मन्त्र ऋग्वेद में ही नहीं अपितु यजु और अथर्व में भी है। प्रकृति की पवित्रता व सार्थकता की वेदत्रय ने डिंडम नाद से साक्षी दी है ताकि अल्पज्ञ मनुष्य भ्रान्तिवश "माया नटनी है, माया मोहजाल है, यह जग झूठा, यह संसार मिथ्या है" ऐसा प्रलाप न करने लगे। फिर भी हमें मोहपाश में फंसाने वाली कोई वस्तु है अवश्य। वह क्या है? हमें प्रकृति का साक्षात् पांच ज्ञानेन्द्रियों से होता है। इन इन्द्रियों को कौन वस्तुयें विमोहित करती हैं?

शब्द—प्रकृति के जितने शब्द हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं, जिसे

सुन कर मनुष्य शब्द माधुर्य में आसक्त हो। कोयल के शब्द तक में किसी की वासना नहीं होती। प्रकृति ने अपनी रचनाओं में शब्द माधुर्य ऐसी कुशलता से उत्पन्न किया है कि वह हममें वासना उत्पन्न नहीं करता। स्वर-ताल, राग-रागनी, नाना प्रकार के वाद्य ये सब मनुष्य के आविष्कार हैं जिससे मनुष्य कनरसिया बनकर दर दर का भिखारी तक बन जाता है। मनुष्य के इस विषाक्त आविष्कार के लिये व्यवस्था बनी **'गाना मोहिनी विद्या है'** इसी मनुष्य ने दूसरों को अपने वाग्जाल में फंसाने के लिये भाषण कला बना डाली। संसार में जितने मधुर मोहक शब्द हैं जिनमें वासना उत्पन्न होती है वे सब मनुष्य की रचना हैं। प्रकृति, विकृति, माया ने उन्हें कभी नहीं बनाया।

रूप—प्रकृति की रचना में नदी, वृक्ष, पर्वत, पशु, पक्षी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, दिखाई देने वाली वस्तुयें हैं। प्रकृति की रचना में स्त्री पुरुष बिलकुल नग्न हैं, तेल, फुलेल, वस्त्रालंकार माया की रचना नहीं। माया के स्वरचित उद्यान, वन, उपवन, सरिता तट, तथा चांदनी रात किसी को विमोहित नहीं करते। उन सबमें प्रकृति ने उतना ही रूप रखा है जितने की आवश्यकता थी। उस रूप में "मोह" उत्पन्न करने की मादकता नहीं। काश्मीर व मानससरोवर के सर्वोत्तम रमणीक दृश्य भी दर्शक के हृदय में राग उत्पन्न नहीं करते। किन्तु मनुष्य के आविष्कार में झोंपड़ी से लेकर लाखों मुद्रा की लागत की अट्टालिकाओं को देखते ही दर्शक के मन में राग पैदा होता है "मेरा भी ऐसा ही महल बने" और वहीं से वासना का जन्म होता है। वस्त्रालंकार तथा वे समस्त वस्तुयें जो बाज़ारों में नज़र आती हैं हमारी ही रचना हैं। जो रूप के कारण बाज़ार में बिक रही हैं। इन मनुष्य आविष्कृत वस्तुओं

का रूप ही दर्शक के मन में वासना उत्पन्न करता है "मैं भी इनका संग्रह करूँ।" जंगल की काली युवती वस्त्र और शृंगार के संयोग से कोमलांगी गौर वर्ण सुन्दरी बन जाती है। वस्त्रालंकार व केश-विन्यास उसे रमणी बना देता है। हम भी कह देते हैं "स्त्री माया का रूप है"। परन्तु ये सब रचनायें मनुष्य की हैं, प्रकृति की नहीं। प्रकृति का नैसर्गिक रूप तो मोहमय है ही नहीं। ये सब हमारी रचना हैं जिनके प्राप्त करने के लिये हम आतुर हैं तथा जो हमें अपनी ओर अनुरक्त करके व्यथित कर रही हैं।

गन्ध—प्रकृति के उद्यान के फूल, काष्ठादि सुगन्धित हैं परन्तु वे नासिका के लिये वासना उत्पन्न नहीं करते। माया ने इनमें सुगन्ध ऐसी होशियारी और इतनी उचित मात्रा में रखी है कि वह न तो हानिकर है और न आसक्ति ही उत्पन्न करती है। मनुष्य के लगाये उद्यान में मोह उत्पन्न करने वाला सौन्दर्य है परन्तु माया के स्वरचित बागों में वह भी नहीं। मनुष्य ने उन्हीं फूल काष्ठादि से इत्र निकाले और अपने आपको रोगोत्पादक कृत्रिम सुगन्ध की वीभत्स वासना में डुबो दिया, जिसके कारण आज मनुष्य जाति सुगन्ध की वासना में मर रही है।

स्पर्श—पुष्पादि की कोमलता व चिकनेपन को मनुष्य का आविष्कार नहीं पहुँच सका। परन्तु इस रचना में कैसा कौशल्य है कि सर्वोत्कृष्ट होने पर भी आसक्ति उत्पन्न नहीं करती। किन्तु मनुष्य के कृत्रिम आविष्कार उन कृत्रिम स्पर्श-सुख युक्त वस्तुओं में ममता उत्पन्न कर देते हैं, जिनके कारण हम अपने जीवन का ध्येय, अपना कार्यक्रम उनको प्राप्त करना ही बना लेते हैं। इसमें हमारा जीवन बीत जाता है।

स्वाद—स्वाद सब से मुख्य है। इसी के कारण शेष चारों की आवश्यकता पड़ती है। जब तक भोजन नहीं मिलता तब तक न रूप भाता है न सुगन्ध और न संगीत ही। जब खूब सुस्वादु, पौष्टिक व उत्तेजक भोजन किये जाते हैं तो उनसे कामज्वर का पागलपन उत्पन्न होता है। उस पागलपन को तृप्त करने के लिये आवश्यकता होती है मधुर संगीत, सुगन्ध, रूप व स्पर्श सुख की। कलाकोविद मनुष्य ने एक लावण्यमयी शृंगारयुक्त सुन्दरी में ये चारों वस्तुयें केन्द्रित करदी हैं। अतः रसना की अत्यन्त तृप्ति ही शेष चारों विषयों की चाह उत्पन्न करती है।

दूध, फल और अन्न ही प्रकृति-प्रदत्त नैसर्गिक भोजन है। दूध माता के स्तनों से ही आरम्भ हो गया था। स्त्री के दूध में जो नैसर्गिक स्वाद है उसे विकृत रसना वाले हम मनुष्य औषधि रूप से भी ग्रहण करने को सहमत नहीं होते। गाय के दूध में भी नैसर्गिक स्वाद ऐसी उचित मात्रा में है कि वह क्षुधा निवृत्ति पर्यन्त ही ग्रहण किया जा सकता है। अन्नादि में भी प्रकृति ने स्वाद इतनी उचित मात्रा में रक्खा है कि जितने की शरीर को आवश्यकता है। परन्तु मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु के अनेक संस्कार करके उसमें सौन्दर्य, स्वाद की तीव्रता व रोचकता बढ़ाई। अन्न के जिन दानों का स्वाद क्षुधानिवृति पर शान्त हो जाता था उसके चूर्ण से अनेक सात्विक, राजसिक व तामसिक रूप बना डाले। बिना भूख भी स्वादु भोजन कंठ से नीचे उतारा जाने लगा। और यह कहा जाने लगा—"इस पापी पेट के लिये सब कुछ हो रहा है।" इस प्रकार मनुष्य की रचना से षट्रस व्यंजनों के अनेक रूप बनाकर मनुष्य को रसना का दास बना डाला और माया का व्यर्थ ही नाम बदनाम हुआ।

यदि भूमण्डल से मनुष्य के आविष्कृत भोजनों को नष्ट कर दिया जावे तो रसना की चखेतियां स्वत: नष्ट हो जावे। दूध, कच्चा अन्न व फल ही इसके लिये नैसर्गिक सात्विक वस्तु अन्त में शेष रहें। इन्द्रियों के लिये कृत्रिम रचनाये स्वत: नष्ट हो जावें। हमारे मार्ग मे जो माया मोह है वह हमारी ही रचना है माया की नहीं। माया तो वेद की वाणी में एक बड़ी भारी नौका है कि जिसके द्वारा ही हम प्रभु के देश को जा सकते हैं। किन्तु हम उसी नौका के काष्ट को तोड़कर उससे अपने मनोनीत सन्दूक और पेटियें बनाते हैं। नौका को खेने का कार्य छोड़कर उन पेटियों के सौन्दर्य में मग्न हो जाते हैं। वासनाओं का जल जब नौका में आजाता है और हमारी शरीर रूपी काठरियें उसमें डूबने लगती हैं तब नौका को दोष देते हैं कि इसने हमारी यात्रा में वाधा डाल दी। यदि संसार से मनुष्य के समस्त आविष्कार निर्मूल हो जावें और यह मनुष्य निकम्मी वस्तु की तरह सैमेटिक धर्मो में वर्णित आदम के पुतले के समान निश्चेष्ट भी पड़ा रहे तब भी इसका जीवन इतना अशान्तिमय न रहे जितना अब इसकी कर्म-वीरता के भयंकर युग में है। देहात के असभ्य गँवार ग्रामीणों का ग्राम्य जीवन योरोप और एशिया के विद्वान ज्ञानी सभ्यों के जीवन से कहीं अधिक सुखद, शांत और निर्विषय है; क्योंकि उन्होंने मंगलमय भगवान् की माया का विश्लेषण करने की धृष्टता नहीं की। उन्होंने भगवान की रचना को अपने लिये पूर्ण विशुद्ध और निर्दोष माना, उनमें हेरफेर करने की, उनका सत्व निकालने की बुद्धिमत्ता नहीं की और न आवश्यकता ही समझी।

हमारा विश्वास है कि मनुष्य की विलक्षण बुद्धि ने अद्वितीय आविष्कार किये किन्तु यदि दूरदर्शिता से देखा जाय तो मनुष्य की विलक्षण

बुद्धि के ये अद्वितीय आविष्कार, नैसर्गिक प्रकृति के साथ नग्न व्यभिचार हैं। अतः ब्रह्मचारियों को यम पालन कराने के लिये हमें किसी नवीन आयोजना, कष्टकर अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हमें केवल इतना कर देना पर्याप्त होगा कि हम अपने कृत्रिम आविष्कारों का पता उन अबोध बालकों को न दें। हमारी इतनी ही कृपा से हमारी अभागी सन्तान का अभ्युदय हो जायगा। माता के दूध में पर्याप्त मधुर रस था। अन्नप्राशन पर भी उस सौम्य शिशु को सलोना (नमकीन) भात ही दिया गया था। यदि हमारे कृत्रिम भोजन बालक के लिये हितकारी होते तो वह अपने शैशव काल में ही मिर्च, अचार, चटनी और अम्लरसों को "मधु" के समान सहर्ष ग्रहण कर लिया करता। इस प्रकार यदि हम पांचों इन्द्रियों के विषयों को नैसर्गिक रूप में ही ग्रहण करावें तो रोगोत्पत्ति न होगी और राग द्वेष के अभाव में यम भंग न होगा। अतः हमें यम-पालन के अनुष्ठान की जरूरत नहीं, जरूरत है यम-भंग को रोकने की।

(ख) यम धर्म की आवश्यकता

पंच यम केवल इसीलिये अनिवार्य नहीं हैं कि वे प्रकृति के नैसर्गिक प्रवाह हैं अपितु वे मनुष्य के लिये निम्न हेतुओं से भी पालनीय हैं:—

(१) व्यक्तिगत शक्ति।

(२) स्वास्थ्य।

(३) सामाजिक शान्ति।

(४) निर्वाण।

(१) जब मनुष्य मिथ्या आचरण करता है तो उसे अपने कथन को यथार्थ बनाये रखने के लिये अनेक सम्बद्ध झूठ बोलने पड़ते हैं। इस प्रकार प्रतिवाद में उसे द्रुतगतिसे तत्सम्बन्धी अनेक मिथ्या भाषणों की रचना करनी पड़ती है जिससे उसका मन और मस्तिष्क क्षुब्ध होकर अशान्त हो जाता है। उत्तरोत्तर मिथ्या भाषणों और कृत्यों के कारण उसकी मानसिक अशान्ति का क्रम बंध जाता है। इसी प्रकार हिंसा कर्म में रत व्यक्ति सदैव परहिंसा तथा आत्म-रक्षा के लिये चिन्तित रहता है। अपना क्षय (ब्रह्मचर्यनाश) तो बड़ी स्थूल बात है। अपनी शारीरिक क्षति से किसे अशान्ति, क्षोभ, दुःख और संताप नहीं होता क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं में प्राणी को स्वशरीर सबसे अधिक प्रिय होता है। जब हम अन्य वस्तुओं की क्षति से क्षुब्ध, चिन्तित और अशान्त हो जाते हैं तब सब से अधिक प्रिय अपने शरीर की क्षति तो असह्य होगी ही। दूसरे के पदार्थों का अपहरण महा अशान्ति और क्षोभ का कारण है। दूसरे के परोक्ष का ध्यान रखते हुये भयभीत होकर किया हुआ कार्य मानसिक क्षोभ को उत्पन्न करेगा तथा प्रकट हो जाने पर तिरस्कार, दण्ड, यातना आदि का दुःख भोगना पड़ेगा। अतः पंचयमों का भंग कारना व्यक्तिगत अशान्ति का मूल कारण है। अशान्ति सबसे भयंकर दुःख है।

(२) आयुर्वेद में जितने रोगों का वर्णन है उनके होने का कारण मिथ्याहार व्यवहार के अतिरिक्त 'चिन्ता, क्षोभ और मानसिक अशान्ति' भी है। ऐसा कोई रोग नहीं जो उपर्युक्त मानसिक व्यापार से न हो जाता

हो। अपना क्षय (ब्रह्मचर्य का नाश) तो प्रत्यक्ष व्याधि है। अतः यम भंग स्वास्थ्य के लिये हानिकर तथा आयु का नाश कर्त्ता है।

(३) कोई मनुष्य कितना ही सत्यवादी क्यों न हो किन्तु यदि उसके चहुं ओर वातावरण में मिथ्यावादी रहते हों, वह स्वयं ब्रह्मचारी हो किन्तु उसके चारों ओर दुराचारियों, लम्पटों का दुर्ग हो, वह स्वयं विश्व-प्रेमी हो किन्तु चारों ओर हत्यारे, बधिक, कलह प्रिय रहते हों, वह स्वयं निर्लोभी हो किन्तु चारों ओर के मनुष्य तस्कर हों तो ऐसे सत्यनिष्ठ महात्मा को आध्यात्मिक शान्ति न मिल सकेगी। अतः व्यक्तिगत शान्ति भी तभी मिल सकती है जब चारों ओर का वातावरण शान्त हो। यही कारण है कि अभ्यासी लोग सुदूर बन में रहते थे जहां हिंसा, वैर आदि का संघर्षण न पहुंच सके। जिस प्रकार समाज व्यक्तियों से बना है उसी प्रकार सामाजिक शान्ति भी व्यक्तिगत शान्ति से उत्पन्न होती है।

(४) "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्त की एकाग्रता से ही निर्वाण प्राप्ति का श्री गणेश होता है। चित्त की एकाग्रता न होने से कोई भी कार्य सुखद प्रतीत नहीं होता। किसी इष्ट के नाश से जब चित्त अशांत और क्षुब्ध हो जाता है तब अति स्वादु भोजन भी नहीं भाता। निर्वाण प्राप्ति के लिये भी चित्त की एकाग्रता और शान्ति की आवश्यकता है जो बिना यम पालन के नहीं हो सकती। यही कारण है कि अष्टांग योग में सर्व प्रथम अंग यम ही है। हमारे जीवन में जितना यम भंग होगा उतनी ही हमारी मानसिक शांति नष्ट होती जायगी। आज संसार की मनुष्य जाति में जो अन्धकार, अशान्ति फैल रही है उसका केवल एक कारण है और वह है यम के साथ अत्याचार। जिस वैदिक धर्म की भित्ति ही सत्य है और पांच यम भी उस सत्य के रूपान्तर मात्र हैं। उन यमों में

ओत प्रोत होना कितना आवश्यक तथा सहज सम्भव है यह मननशील व्यक्तियों से छिपा नहीं है।

धन का अत्याचार

यदि भारत अमेरिका और फ्रान्स की तरह धन-संपन्न होकर स्वर्ण-लंका बन जावे, दूध की नदियें बहने लगें, प्रत्येक राजा ऐतिहासिक तथ्य को भित्ति पर यह घोषणा कर सके कि "मेरे राज्य में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसके हाथों में स्वर्ण के कड़े तथा कानों में स्वर्ण-कुण्डल नहीं हैं, जिसे नित्य यथेष्ट दूध, घी, अन्न नहीं मिलता" तब भी विद्याध्ययन, ब्रह्मचर्य पालन के लिये प्राकृतिक जीवन ही कल्याण-पथ होगा। आधुनिक तथा तत्कालोन कृत्रिम विधान वही प्रभाव डालेगा जो प्रभाव विदग्ध, कटु तथा सड़े हुये अन्न से, आसवों से मनुष्य शरीर के वृष्य-पोषण पर होता है क्योंकि ऐश्वर्य प्रचुरता को उत्पन्न करता है; प्रचुरता मत्सरता और दम्भ को जन्म देगी, दम्भ से दुराग्रह, मत्सरता से आलस्य, आलस्य से तमोगुण और तम से अनृत की सृष्टि हो जायगी। स्वाध्याय, वेद पाठ अनृत के विष प्रभाव को न मिटा सकेंगे।

आज सारा संसार पैसे के लिये पागल हो रहा है। दो पैसे के अन्न और चार पैसे के घी से अधिक कोई न खाता है और न आवश्यकता ही है। फिर वे कौनसी वस्तुयें हैं जिनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य अहर्निश चिन्तित-परेशान रहता है? वे क्या पदार्थ हैं जिनके बिना मनुष्य का जीवन मछली की तरह जलाभाव के कारण प्रलय को प्राप्त कर लेगा; और जिनकी प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गई है?

मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को इतना बढ़ा लिया है और बढ़ाने के लिये उन्मत्त हो रहा है कि उसके लिये २४ घंटे का दिन मान भी छोटा प्रतीत होता है।

"हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखं"

इस स्वर्ण ने सत्य का, कल्याण पथ का मुख ढांप दिया है। वासनाओं के, तृष्णाओं के लोभ ने हमें प्रत्येक अनृत के सम्मुख नतमस्तक कर दिया है। इस "धन के अत्याचार" से हम इतने पीड़ित और क्लान्त होते जा रहे हैं कि भयभीत पराजित की तरह "एवमस्तु" के अतिरिक्त हमें कुछ दूसरा नहीं सूझता। ऐसा कौन पिता होगा जो अपनी सन्तान को उस अत्याचार से जिससे वह (पिता) स्वयं पिस रहा है, बचाना न चाहता हो। वासनाओं के लोभ ने हमें 'धन के अत्याचार' के सम्मुख नत मस्तक करके, हम से, बलात् 'एवमस्तु' कहलाया है और हमने रक्त का घूंट पीकर उस अत्याचार को सहन किया है। हम कम से कम अपनी अभागी सन्तान को वासनाओं के लोभ रूपी महा पिशाच से अपरिचित रखें तो हमारे बच्चों का परम कल्याण होगा। सभ्य जीवन व्यतीत करने वाले जानते हैं और सर्द आह भर कर रह जाते हैं जब उन्हें अपनी चिर अभ्यस्त वासनाओं के लोभवश अपनी अन्तरात्मा का अपमान करना पड़ता है।

(ग) प्राकृत आजीविका

भौतिक शरीर को बनाये रखने के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता है वे वस्तुयें ही प्राकृत धन हैं। स्वर्णादि तो एक माध्यम मात्र है। उक्त प्राकृत वस्तुओं का उपार्जन ही निर्वाह है। शरीर के हिताहित पर, वस्तुओं के गुण दोष के अतिरिक्त, निर्वाह-उपा-

जन की मानसिक वृत्ति का बड़ा प्रभाव होता है। गुरुकुल स्थित व्यक्तियों (वानप्रस्थ व ब्रह्मचारियों) की आजीविका चार प्रकार से प्राप्त की जा सकती है:—

(१) स्व परिश्रम से (२) क्रय करके (३) दान और भिक्षा से (४) विहंगम भाव से।

१—स्वपरिश्रम—ब्रह्मचारियों तथा गुरुवर्ग को विद्या व्यसन करते हुये किसी बड़ी आजीविका पद्धति को कार्यरूप देना युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि गुरु-वर्ग (वानप्रस्थ) परिश्रम शिथिल तथा विद्यार्थी वर्ग निर्बल व अनुभव हीन है। इन्हें चिरकाल अपेक्षित किसी जटिल कार्य में पड़ना ठीक नहीं।

२—क्रयद्वारा—क्रय, मुद्रा-माध्यम से ही सिद्ध हो सकता है। मुद्रा प्राप्ति के साधन कभी भी उत्कृष्ट नहीं रहे। आजकल तो वे अधमतम हो गये हैं। आध्यात्मिक लोक में संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली वस्तु है। यह आकाश के शब्द, अन्तरिक्ष को अशनि (विद्युत) के समान सूक्ष्मतम होते हुये भी अत्यन्त शक्ति-शाली है। शरीर पर अन्न के केवल स्थूल भाग का ही प्रभाव पड़ता है किन्तु सूक्ष्म भाग मन को प्रभावित करता है। "जैसा खाय अन्न वैसा हो मन", यह लोकोक्ति इसी सूक्ष्म प्रभाव के विषय में है।

प्राकृतिक धर्म

जिस प्रकार चर्मचक्षु रोगों के सूक्ष्म कीटाणुओं को नहीं देख सकते, जिस प्रकार चुम्बक की अदृश्य शक्ति को, विद्युत की धारा को हम नहीं देख सकते, केवल उसके कार्य को, प्रभाव को अनुभव कर सकते हैं उसी प्रकार स्थूल बुद्धि संस्कार के अणुओं की ठीक-ठीक कल्पना भी

नहीं कर सकती। वह नहीं जान सकती कि किस प्रकार वाणी से निकला हुआ अश्लील शब्द आकाश में स्थित हुआ, दुर्बल आत्माओं के कुसंस्कार-अशिव संकल्पों को उत्तेजित करके आत्मा का घात करता जा रहा है, तथा उसी व्यापक आकाश में स्थित वाणी का श्लील शब्द शिवसंकल्पों को प्रोत्साहन दे रहा है। अतः जिनसे अनर्थ **मुद्रामाध्यम** प्राप्त किया जायगा, उनके संस्कार मुद्रा के साथ अवश्य लिप्त होकर आवेंगे।

राज्य-प्रबन्ध तथा व्यावहारिक जगत में उक्त सूक्ष्म संस्कारों का प्रभाव उसी प्रकार प्रतीत नहीं होता, जिस प्रकार मैले वस्त्र पर साधारण मैल प्रकट नहीं होता।

अस्तेय और अपरिग्रह के अन्तर्गत धनोपार्जन करने वाले, मुद्रा को सहाय्य दे ही नहीं सकते क्योंकि उनकी आय अत्यल्प होती है। मुद्रा की प्राप्ति स्तेय व परिग्रह द्वारा ही हो सकती है। यदि गहन विचार किया जाय तो स्तेय और परिग्रह एक ही निकलेंगे, किसी के अज्ञान में उसकी वस्तु को ले लेने को ही स्तेय नहीं कहते किन्तु **प्रत्येक कर्म, चेष्टा व प्रयत्न, जिसके द्वारा दूसरे का नसर्गिक निर्वाह अवरुद्ध होता हो, स्तेय है**। गाय की सेवा करके उसका दूध ले लेने तथा कुछ भाग गोवत्स के लिये छोड़ देने को प्रायः धर्म ही समझते हैं, किन्तु गोवत्स की नैसर्गिक आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुये यह चोरी ही है, तभी महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्मोपदेश देते हुये कहा था "गौ के दूध का छटा भाग ग्रहण करे। पांच भाग गोवत्स के लिये रहने दे" गो सेवा की वेतन स्वरूप उसका छटा भाग है। पांच भाग गोवत्स के लिये पर्याप्त हैं।

यह बात तो योग के साधारण अभ्यासियों के अनुभव में भी

आचुकी है कि पक्वान्न द्वारा पाचक के संस्कारों का प्रभाव खाने वाले पर पड़ता है। यही कारण है कि भारत की प्राचीन परिपाटी में भोजन बनाने का कार्य गृह की प्रिय स्त्री जन (मात, बहन, पत्नी आदि) के सुपुर्द रहता था, जो गुण, कर्म स्वभाव में सर्वथा सवर्णा होती थीं।

मुद्रा, उन धनसम्पन्न व्यक्तियों से वेतन स्वरूप व दान में प्राप्त होती है जिनकी समस्त चेष्टायें, प्रयत्न, स्तेय व परिग्रह के द्वारा ही होते हैं। मुद्रा-धन में स्तेय कार्य सहज सिद्ध हो सकता है क्योंकि हिसाब का ग़बन, गड़बड़ी अन्नादि की अपेक्षा मुद्रा में सहज सम्भव है।

यदि ब्रह्मचारियों को विजातीय प्रभाव से, कुसंस्कारों से सुरक्षित रखना अभीष्ट है तो उपर्युक्त आजीविका से सुरक्षित रखना चाहिये। **ब्रह्मचारी को पथविचलित करने के लिये तो उसके जन्मान्तर के अशिव संकल्प का विष ही पर्याप्त है।**

भोजन करते हुये यदि कोई क्षुधार्त याचक आजावे तो उसे भोजन अवश्य ही देना चाहिये, ऐसा हमारे स्मृतिकारों का हमें आदेश है। यदि ऐसा नहीं किया जाता और क्षुधार्त याचक खाने वाले के भोजन को चाह से देखता रखता है तो याचक की भोजन पर दृष्टि पड़ जाती है, जिससे कभी-कभी खाने वाले के शरीर में वह भोजन यथावत नहीं पचता। इसीलिये भोजन एकान्त में करना बताया गया है। जब क्षुधार्त की दृष्टि भोजन में विष संचार कर देती है तब अनृत की कमाई का दान बालकों पर कुसंस्कारों का कैसा प्रभाव डालेगा यह विचारने की बात है।

भिक्षान्न में दान से प्राप्त अन्न की अपेक्षा कुसंस्कारों का कम प्राबल्य होता है। यही करण है कि भिक्षान्न उतना वर्जित नहीं जितना दान का अन्न। मुद्रा-दान-ग्रहण द्वारा कुसंस्कार लिप्ति के हमारे सामने कुछ

प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आधुनिक मन्दिर, मठ व महन्तों का जीवन आजकल अत्यन्त आलोचनीय हो रहा है। यदि इन केन्द्रों को मुद्रा धन की अपेक्षा अन्न धन मिला करता और उस अन्न को विक्रय कर मुद्रा में परिणत करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगे होते तो इन महन्तों, मन्दिरों का जीवन इतना कुत्सित न होता।

मुद्रा व्यावहारिक जगत् में जितनी सुविधाजनक है उतनी ही यह प्राकृतिक जीवन तथा साम्य भाव को अवरोधित करती है। प्रतिस्पर्धा व वैषम्य भाव इसके कारण भयंकरता को प्राप्त कर लेते हैं। अतः मुद्रा की भित्ति पर चलाये जाने वाले शिक्षा केन्द्रों में चाहे जितनी सुचारुता, निश्चिंतता, वाह्याडम्बर, सुकुमारता क्यों न हो किन्तु उनमें साम्यभाव, सदाचार, सत्यनिष्ठा, न्याय प्रियता तथा यमभाव हो ही नहीं सकता। जिन्हें हमारे इस कथन में संशय हो वे आधुनिक आदर्श कहलाने वाले शिक्षा केन्द्रों का, राम के गुप्तचर की तरह, निरीक्षण करें तो उन्हें हमारे कथन की वास्तविकता का स्वतः पता लग जायगा। मुद्रा हेय होने से त्याज्य है अतः उसका दान या भिक्षाग्रहण निर्दोष नहीं हो सकता। मुद्रा का आविष्कार हुये सहस्रों वर्ष हो गये और तभी से ही इसका उपयोग होता चला आ रहा है किन्तु आधुनिक शिक्षाकेन्द्रों से पूर्व कभी भी 'भवती भिक्षां देहि' में अन्न को छोड़ 'मुद्रा' को स्थान नहीं मिला।

आजकल शिक्षा केन्द्रों के स्वयम्भू डेपूटेशन लेकर जो दिन रात 'चन्दा' और 'फण्ड' जमा करते डोलते रहते हैं इसे वे भिक्षान्न नहीं कह सकते और न वे इस 'भिक्षा' शब्द को जो आधुनिक सभ्य जगत् में हेय माना जाने लगा है, अपनी वृति के साथ जोड़ना ही उचित

समझते हैं । भिक्षान्न में वैषम्यभाव कभी नहीं हुआ, क्योंकि भिक्षान्न पक्वान्न नहीं होता । पक्वान्न में उत्तम से अधम तक श्रेणी हो सकती है किन्तु कच्चे अन्न में दूध, घी के बाहुल्य व न्यूनत्व के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं हो सकता । प्रदत्त भिक्षान्न न दाता के हृदय में लोकेषणा को जन्म देता है न भिक्षुक के हृदय में दाताओं के प्रति वैषम्य दोष का बीजारोपण करता है । किन्तु मुद्रा धन दाता के हृदय में प्रदत्त मुद्रा से अहम्मन्यता और लोकेषणा को जन्म देकर भिक्षुक के हृदय में भी न्यूनाधिक दाताओं के प्रति आदर, अनादर, स्नेह, और द्वेष को उत्पन्न कर देता है ।

डेप्युटेशनों द्वारा मांगे हुये 'चन्दे' व 'फण्ड' को 'दान' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दान अयाचित ही मिलता है, मांगा नहीं जाता ।

यह इस मुद्रा-धन का ही अत्याचार है कि आज उपदेशक की सफलता अधिक से अधिक मुद्रायें बटोर कर लाने में है । इस सफल उपदेशक का पुरस्कार भी वे बटोरी हुई मुद्रायें ही वेतन वृद्धि स्वरूप हैं और दाता के आर्यत्व, भक्ति श्रद्धा का मानदण्ड (Standard) उसकी प्रदत्त मुद्राओं के बोझ पर अवलम्बित है । इसके अनुपात से समाज में उसका आदर और स्थिति है । आध्यात्मिक जीवन का इस बहीखाते में कहीं भी समावेश नहीं ।

मुद्रा और अन्न में कितना अन्तर है ? इसकी पुष्टि में कोई अन्य युक्ति न देकर केवल एक उदाहरण पाठकों के समक्ष रख देना पर्याप्त समझते हैं तथा पाठकों से निवेदन है कि, वे तर्क और युक्ति के फेर में न पड़ कर अपने हृदय के स्नेहस्पंदित केन्द्र में इस मनोविज्ञान के वैचित्र्य का चिन्तन करें ।

जब किसी के घर कोई विद्वान् उपदेशक, साधु, संन्यासी अथवा कोई प्रिय सम्बन्धी आता है तो वह यथाशक्ति उसका भोजन से सत्कार करता है। यदि गृहस्थ उस साधु महात्मा को चार आने का भोजन न देकर चार से चौगुना सोलह आने का एक रुपया देकर बाजार का रास्ता बता दे तो क्या यह अनुचित होगा? बही खाते वाला एकाउण्टेन्ट इस बात पर अभिमान करेगा कि उसने चार की जगह १६ आने पुण्यार्थ दान कर दिये, बही खाते के मुनीम की पार्थिव दृष्टि मनोविज्ञान के अदृश्यलोक तक नहीं पहुँच सकती। अतः दान से दिया जाय अथवा भिक्षा से मांगा जाय, ब्रह्मचर्य की ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मण और संन्यासी की भी वृत्ति अन्न ही है, और वह अन्न अपने मौलिक रूप में ही हो।

विहंगम आजीविका

'भिन्नरुचिर्हिलोकः' सब के संकल्प शिव नहीं होते। अतः सब गृहस्थों की आजीविका निर्मल नहीं हो सकती। यद्यपि "दान" और "भिक्षा" सहर्ष तथा सप्रेम दिये जाते हैं जिनमें सद्भावना की पर्याप्त मात्रा रहती है परन्तु जिन्हें अपनी आत्मा की पूर्ण पवित्रता की साधना अभीष्ट है वे सद्भावना, स्नेह से मिश्रित गृहस्थों के इस ममतामय अन्न को भी हेय समझते हैं। वे भिक्षा और दान दोनों को त्याज्य मान कर 'विहंगम' आजीविका करते हैं। गो चराकर उनके दूध का कुछ भाग शीलोञ्छवृति तथा वन के प्रकृतिप्रदत्त कंद, मूल, फल ही विहंगम आजीविका है।

आज मानव समाज के नीति विधान की महिमा है कि सबको अन्न देने वाला अन्नदाता किसान आज 'गंवार' 'मूर्ख' कहलाता

है। गो चराने वाला जंगली है। शोला चुनना चमार बनना है किन्तु कौशल, पिशुनता से सरल किसानों के अन्न का बटोर कर धन जमा करने वाला, रिश्वत की सतत आमदनी का संग्रह करने वाला, छलछिद्रों से धन जोड़ने वाला आज सभ्य, सभापति, प्रधान, नायक, सज्जन, महानुभाव है। जिस समाज में सम्पत्ति-शालिनी वेश्या को सती का गौरव मिलता हो, जहां सदाचारिणी कंगाल स्त्री अछूत मानी जाती हो, ऐसे राष्ट्र में, समाज में किसी को सदाचार की ओर अनन्य श्रद्धा हो जावे, यह आश्चर्य है! कभी जन्म का शूद्र अछूत माना जाता था, आज जीवन का निर्धन अछूत है।

राज्य का साहाय्य

गृहस्थ ने अन्न धन पवित्रता से कमाया है या कर्म में कुछ मलीन वृत्ति रही है किन्तु उसने जो 'दान' और 'भिक्षा' दी है उसमें स्नेह, श्रद्धा और सद्भावना पर्याप्त रही है क्योंकि उसने 'दान' और 'भिक्षा' सप्रेम सहर्ष दिया है किन्तु राज्य को दिये हुये 'कर' में वह प्रेम व पवित्रता नहीं। कुछ ने 'कर' बलात् दिया है, कुछ ने उदासीनता से। सहर्ष देने वालों के मनोभाव में श्रद्धा नहीं होती।

अतः इस 'कर' द्वारा प्राप्त राज्यकोष भी भिक्षाकेन्द्रों के महान् यज्ञ के लिये पवित्र आहुति नहीं है। यही कारण था कि प्राचीन भारत में कोई गुरुकुल, कोई शिक्षाकेन्द्र राज्य कर की साहाय्य से परिचालित नहीं हुआ। राज्य की ओर से केवल विस्तृत वन भूमि, वानप्रस्थ आश्रमों तथा गौवों के लिये अकृष्य रूप में छुटी रहती थी जिसका कोई कर, राज्य वसूल न करता था। उस विस्तृत वनभूमि

पर कोई कर न लेना ही राज्य का मुख्य साहाय्य था तथा वन के दस्यु व हिंस्र निशाचरों से रक्षा करना गौण साहाय्य थी। किसी प्रकार का रुपया, पैसा, आटा, दाल, घी कभी किसी आर्यराज्य में राज्य की ओर से किसी गुरुकुल-शिक्षा केन्द्र को नहीं मिला। प्राचीन ऋषियों ने चरित्र, सदाचार, प्राकृतिक जीवन की समस्याओं का कितना सूक्ष्म अन्वेषण और निरीक्षण किया था यह बात निष्पक्ष चिन्तनीय है। समय के प्रवाह के साथ अनृत मार्ग में बह जाना बुद्धिमानों की सफलता नहीं है। यदि उस प्राकृतिक-जीवन में कोई उच्च कोटि का दार्शनिक तथा वैज्ञानिक महत्व न होता तो भारतीय दर्शनों के निर्माता आधुनिक युगमें 'जंगली' 'अपमान जनक' 'कमीना' कहलाने वाली 'शीलौच्छ' 'भिक्षा' आदि वृत्तियों को अपनी आजीविका का मुख्य अंग न बनाते। क्योंकि अपने दोनों पुत्रों को ऋषि के हाथ में सौंप देने वाले दशरथ की अयोध्या में विश्वामित्र को योगाभ्यास के लिये एक सुन्दर एकान्त भवन मिल सकता था।

वैदिक सभ्यता ही इस प्राकृतिक आदर्श की भक्त रही हो सो बात भी नहीं है। ईसाई और मुसलमान मतों की शिक्षाशैली में भी इसी प्राकृतिक विधान को सर्वोच्च स्थान मिला था। मुफ्त की मसजिद विद्यालय थी और घर-घर की रोटियों से सन्तुष्ट रहने वाला आजकल की भाषा का 'पागल मुल्ला' आचार्य होता था। मुसलमानों का राज्य था, आजकल के अंग्रेज प्रोफ़ेसर की तरह उस 'पागल मुल्ला' को विलासिता की सब वस्तुयें प्राप्त हो सकती थीं, परन्तु उस इसलाम मत के पवित्र प्राकृतिक विधान में तो इसलाम सम्राट् (खलीफ़ा) को भी एक समय में एक से अधिक कुर्त्ता रखने का अधिकार

न ।। किसी मुसलमान के पास एक समय में अधिक कुर्ते होने से उसके ईमान में संशय हो जाता था। इस मुद्रा के दान-ग्रहण में कितना विष है इसे और युक्तियों से प्रमाणित करने की विशेष आवश्यकता नहीं जब कि हमारे समक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । हिन्दू पुरोहितों व महन्तों की दुर्दशा इस मुद्रा धन ने ही की। हम आज निःस्वार्थ भाव से मनुष्यमात्र को धर्म की सड़क पर घसीट लाने के लिये संलग्न संस्था संचालकों को उसी दुर्दशा में ग्रस्त पाते हैं। वे दिन रात पैसे वालों की ओर गृध्र दृष्टि लगाये रहते हैं कि किस सभ्य नीति और सभ्य भाषा द्वारा उनसे टका प्राप्त किया जावे। सत्यनारायण की कथा वाले हिन्दू ब्राह्मण की तरह आज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के वेद व्यास महानुभावों का ध्यान कथा की अपेक्षा 'चन्दे' के भार में अधिक रहता है। वे भी क्या करें ? संस्थाओं की राक्षसी भूख व सभ्य जीवन बुरी तरह कलेवर वृद्धि कर रहे हैं। क्या धन का इससे अधिक अत्याचार हो सकता है ? जिस धन ने उन व्यक्तियों को, जो परोपकारार्थ जीवन दे चुके, पथभ्रष्ट कर दिया, वह धन उन 'केवलादी' दुनियादारों को जो केवल अपने लिये जी रहे हैं, मनुष्य रहने देगा ? अतः यदि धनवान् पिताओं को अपनी अभागी सन्तान का सच्चा कल्याण तथा आत्मिक शांति अभीष्ट है तो वे इन अबोध सौम्य बालकों को प्रकृति माता की ओर चलने दें। यदि धनवानों को अपनी सन्तान का पतन ही अभीष्ट है तो निर्धन माता पिता ही इस ओर आवें, और अपनी सन्तान को पतित करने के साधनों को जुटाने की दिन रात की चिन्ता से मुक्त हो जावें। यदि जीवित माता पिता वाले बालकों के पिता का वात्सल्य प्रेम तथा माता का जननी-स्नेह अभागी सन्तान को कल्याण-पथ से वंचित रखता है, तो हमें उनही बालकों

को इस पवित्र पथ में ले आना चहिये जो अनाथ हैं। ऐसे सहस्त्र बालकों में १०० तो ऐसे निकल ही आवेंगे जो प्रकृति के मार्ग में पशु के समान ही चलते रहेंगे।

वेद-प्रचार

वेद प्रचार के दो रूप हो सकते हैं:—

(१) हम चारों वेदो के मन्त्रों के भाष्य को सुन्दर चिकने कागज पर ललित दार्शनिक शब्दों में अनेक भाषाओं में छाप छाप कर अधिक से अधिक व्यक्तियों के हाथों में इस ग्रन्थ को पहुंचा दें। आजकल जो भौतिक वाद बढ़ रहा है, उस भौतिक वाद में जो आविष्कार, यन्त्र, व्यापारिक संघर्ष है उसमें मनुष्य-समाज की समृद्धि सिद्धि की बढ़ती मानी जा रही है। आज जो-जो शिष्टाचार के नियम और नये नये नीति विधान सभ्यता के नाम पर बनते जारहे हैं उन सब का बीज वेद मन्त्रों में ढूँढ डालें। जिस प्रकार बौद्ध धर्म से पहले राजाओं को वासनाओं, आचार, विचार, तथा राज-नीति को वेदोक्त प्रमाणित करने के लिये तथा अपने वासनामय कुत्सित स्वार्थ के लिये तत्कालीन पण्डित वेदों में, गोमेध, आजमेध, मृतकश्राद्ध, मूर्तिपूजा, सोमरस, सुरा (शराब) इन्द्र के दर्बार में अप्सराओं के नृत्य मांसवलि, हवि-शेप भोजन आदि ढूंढते थे—प्रमाणित करते थे। उसी प्रकार इस पश्चिमी सभ्यता की समृद्धि उन्नति बृद्धि को देखकर उस कृत्रिम सभ्यता के मोह में पड़कर यदि हमें आज इस साम्राज्यवाद, पूंजीवाद को वेदोक्त प्रमाणित करना अभीष्ट है और हम चाहते हैं कि उन ऐश्वर्यशालो ठाठों में लीन हो जाने को ही 'आर्यत्व वेदोक्त ज्ञान-कर्म कहते हैं तो भी उक्त प्रकार के प्राकृतिक शिक्षाकेन्द्रों से 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के उक्त वेद प्रचार में हानि न होगी।

(२) और यदि वेद प्रचार इससे भिन्न कुछ और वस्तु है, यदि वेद प्रचार का वास्तविक कार्य क्रम है:—

(१) तेनत्यक्तेन भुञ्जीथामा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। (२) असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । (३) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यपिहितं सुखम तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

तो इसके लिये प्राकृत जीवन ही एक मात्र यथार्थ मार्ग है ।

(घ) ऋषिदयानन्द का दृष्टि कोण

महर्षि दयानन्द ने भूत भविष्य को छोड़कर वर्तमान को अपनाया । उन्होंने 'Let past bury its dead'past' को छोड़ा। जो गया सो गया Take it for granted प्रस्तुत वस्तु पर ही सन्तोष करके निर्माण की आयोजना की। Trust no future however pleasant भविष्य की भव्य कल्पनाओं में न भूल कर उन्होंने Act Act in the living present' के आधार पर प्रस्तुत वर्तमान में ही 'कुर्वन्नेव कर्माणि' को अपनाना उचित समझा। उन्होंने 'Heart within and God overhead' ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किन्च को ही ग्रहण करके उत्पत्ति (गर्भाधान संस्कार) को सर्व प्रथम स्थान दिया। आदर्श गृहस्थ न उपलब्ध थे, न लोकान्तर से आ सकते थे। प्रस्तुत में ही संतुष्टि करनी थी, अतः जैसा भो गया बीता गृहस्थ था उससे ही यथार्थ विधि से संस्कृत फल उत्पन्न कराने का सर्व प्रथम विधान रक्खा और उस संस्कृत उत्पन्न फल (शिशु) को संस्कारयुक्त विकास में ले जाकर अवसान (समाप्ति) तक पहुंचा दिया यही १६ संस्कारों का क्रम है ।

गुरुकुलों का काम सन्तान पैदा करना नहीं है, किन्तु जो उत्पन्न हो चुकीं उनको लेकर ही वह वास्तविक रचना को जिससे आगे को वर्णाश्रम की यथावत् स्थापना हो सके। ऋषि दयानन्द किसी लोकान्तर से अपने साथ आदर्श गृहस्थ, ब्राह्मण संन्यासी नहीं लाये थे। वे स्वयं गृहस्थ नहीं थे, जो आदर्श सन्तान उत्पन्न कर जाते। वे स्वयं वानप्रस्थ भी नहीं थे जो बौद्ध विहारों की तरह प्राकृत शिक्षा केन्द्र खोलकर चले जाते। वे स्वयं संन्यासी थे। वर्णाश्रम धर्म इतना नष्ट भ्रष्ट हो चुका था कि उन्हें यज्ञ के लिये निर्लोभी ब्राह्मण, शिक्षा केन्द्र के लिये तपस्वी वानप्रस्थ, तथा वेद-प्रचार के लिये सच्चे संन्यासी प्याज में सुगन्ध के समान कहीं भी न मिलते थे।

अमैथुनी सृष्टि तथा मैथुनी सृष्टि के कार्यक्रम में बड़ा अन्तर होता है। अमैथुनी में सांचा बनता है, मैथुनी में सांचे से मूर्ति ढलती है। सांचा बनाने और मूर्त्ति के ढालने के कार्यक्रम में विशेष अन्तर है।

ऋषि दयानन्द को वेद प्रचार के लिये वेतनभोगी उपदेशक रखने पड़े, क्योंकि संन्यासी उपलब्ध न थे। गुरुकुल को वेतन भोगी अध्यापक रखने पड़े, क्योंकि कोई भाग्यशाली कहलाने वाला पांडवों की तरह 'हिमालय में गलना' पसन्द न करता था। यह तो इस पुनर्जन्म की आदि व्यवस्था थी किन्तु ५० वर्ष बाद भी तत्कालीन बालक वानप्रस्थ नहीं हुआ। इसका कारण है अप्राकृत जीवन की घृणित ममता। यदि हमें आवश्यकता है कि वेदप्रचार बनिये के बही खाते की भित्ति, दफ्तरों के कागजों के अनुपात द्वारा न होकर परमात्मा के अदृष्ट न्याय विधान विश्व-व्यवस्था के समान होने लगे। जिस प्रकार परमात्मा के साम्राज्य में न कोई दफ्तर है, न कागज, न चित्रगुप्त, न कोई न्यायालय किन्तु

प्रबंध, न्यायदण्ड, उत्पत्ति, प्रलय आदि सब यथावत् चल रहे हैं, उसी प्रकार हमारा वेद-प्रचार चल निकले तो हमें चाहिये कि **प्राकृत जीवन से आगामी सन्तान को ओत प्रोत कर दें।**

योगाभ्यास से शून्य जो महानुभाव योगेश्वर जनक और कृष्ण की तरह सांसारिक विषयों में रमण करते हुये जितेन्द्रिय, संयमी और तपस्वी बनने का दावा करते हैं, जिनकी दृष्टि में पहली श्रेणी का वेद-प्रचार ही आवश्यक है, जिनकी सम्मति में वेद-प्रचार के लिये तप, त्याग की विशेष आवश्यकता नहीं, जो कोलाहल तथा प्रसिद्धि को वेद-प्रचार समझते हैं, उनके लिये यह आयोजना हास्यास्पद होगी। तथा उनकी दृष्टि में पश्चिम के ऋषियों द्वारा सभ्य कहलाने वाली विलासप्रिय पौराणिक काल की समुन्नत (?) आर्य जाति को 'जंगली' बनाना है क्योंकि जो छल कर ही नहीं सकता, वह 'जंगली' है और जो 'छल' कर के उसे सरल प्रमाणित कर दे वह सभ्य है। अतः ऐसे महानुभाव केवल मौन ही रहें तो यह भी उनका कम अनुग्रह न होगा। किन्तु जो इस आयोजन में श्रद्धा रखते हैं उनके सामने हम निम्न विचार रख देना उचित समझते हैं:—

(१) जिस प्रकार नवजात शिशु नग्न उत्पन्न होता है तथा नग्न ही रहता है। माता आदि वर्ग साधारण वस्त्र उढ़ा देने के अतिरिक्त और कोई वस्त्राडंबर नहीं करतीं। भोजन भी माता के स्तन का दूध ही होता है, जिसमें अत्यल्प मधुर रस के अतिरिक्त कोई स्वाद विशेष नहीं होता। ऐसे शिशु को यदि अम्ल रस (नींबू) दिया जाता है तो वह उसे ग्रहण करके मुखाकृति बिगाड़ कर रोने लगता है किन्तु इसी शिशु को शनैः शनैः सब तीक्ष्ण विषम वस्तुओं का व्यसनी बना दिया

जाता है। इसी प्रकार शनैः शनैः वह इन कृत्रिम भोजनों से निवृत्ति भी प्राप्त कर सकता है।

(२) जिस प्रकार हम नाना प्रकार के राजसिक तामसिक भोजनों को खाते हुये अपने उस नवजात शिशु को अभागा नहीं समझते, जो मां का स्वाद रहित दूध पीकर फूलता फलता और मुदित रहता है वैसे ही हमें अपने ब्रह्मचारियों को प्राकृत जीवन व्यतीत करते हुये अभागा नहीं अपितु परम भाग्यवान समझना चाहिये। भोजन के कुछ उपयोगी तत्वों को नष्ट करके उसे रोचक सुन्दर बना डालना भाग्यशालीनता नहीं कहला सकती।

(३) 'स्वाद' स्वादु भोजन में नहीं अपितु 'क्षुधा' में है। खूब लगी क्षुधा में शुद्ध प्राकृत भोजन अत्यन्त स्वादु लगता है जो क्षुधानिवृत्ति होते ही सहर्ष त्याग दिया जाता है भोजन को रोचक तो तब बनाना चाहिये जब बिना भूख कण्ठ से नीचे उतारना अभीष्ट हो। कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि बिना भूख भोजन आमाशय में क्यों भेजा जावे।

(४) आज प्रत्येक व्यक्ति पैसे के लिये उन्मत्त हो रहा है क्योंकि जहां एक ओर मनुष्य इस पैसे के अभाव में अपनी आजीविका से वंचित है वहां दूसरी ओर समाज में उसे अछूत-पशु समान समझा जाता है जो सर्वथा असह्य है। किन्तु अभ्यास का यह नियम है कि "चिरकाल का अभाव 'रुचि' को निर्मूल कर देता है।" समान भाव के रहने से तथा चिरकाल तक व्यसन की वस्तुओं के अभाव से साधारण मनुष्य का मन भी उन व्यसनों की प्राप्ति के साधन मुद्रा-धन से उदासीन हो जायगा। विषय का परोक्ष विषय से

उदासीन कर देता है।

(५) बाजार में भुनता हुआ मांस और मद्य जहां एक ओर मांसाहारी व शराबी को आकर्षित करते हैं वहां निरामिष ब्राह्मण के मन में घृणा को उत्पन्न कर देते हैं उसे उन वस्तुओं के स्वाद या प्राप्ति की अभिलाषा नहीं होती। **अतः प्राकृत जीवन के अभ्यस्त स्नातकों के लिये नागरिक प्रलोभन निरामिष ब्राह्मण के लिये मांस से अधिक आकर्षक न होंगे।**

(६) जिस प्रकार अंगरेज महिला का सुन्दर बूट भारत की गंवार स्त्री को एक आंख नहीं भाता, जिस प्रकार भारत की नारी के सुन्दर नुपूर अंगरेज महिला के हृदय में ममता उत्पन्न नहीं करते, उसी प्रकार उन जंगली "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के व्रतियों को नागरिक प्रलोभन यम, नियम, पंच यज्ञ से विचलित न कर सकेंगे। धनवान व्यक्ति ऐसे गुरुकुलों में अपनी संतान को न भेजेंगे क्योंकि वे कालेजों के रूपान्तर वा प्रतिबिंवस्वरूप आधुनिक गुरुकुलों में ही अपनी सन्तान को नहीं भेजते। जो धन संचय की प्रतियोगिता में भाग लेने को उत्सुक हैं जिनका ध्येय सन्तान को धन के लिये पढ़ाना है, वे भी इस मार्ग में न आयेंगे। किन्तु भारत में योग्य बालकों का अभाव नहीं, सहस्रों निर्धन गृहस्थों के बालक तथा अन्य अनाथ ऐसे मिल जावेंगे जो धनवानों के बालकों से कहीं अधिक योग्य सुशील चतुर होंगे।

(७) जिस प्रकार कुछ काल में ही कडुवी अफीम और तम्बाकू सेवन के व्यसन का अभ्यास हो जाता है, जिस प्रकार ग्लानिकारक मद्य के अभ्यास से मनुष्य अग्नि के समान दाहकारक मिर्च का अभ्यास कर है, उससे कहीं अल्पकाल में जो निरामिष भोजी

हैं और जो किसी प्रकार की मादक वस्तु का सेवन नहीं करते ऐसे वयोवृद्ध प्रौढ़ वानप्रस्थ के नैसर्गिक जीवन का बहुत ही सहज में अभ्यास कर सकते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का प्रयत्न इस विषय में सहज सफल रहा है।

अतः यम पालन में, स्वावलम्बन में, देश की गरीबी में, कल्याण मार्ग में चलने के लिये, निश्चित रहने में, निर्विषय बनने; स्वस्थ और सुखी रहने के लिये तथा दूसरों का वास्तविक पथ प्रदर्शक बनने के लिये आवश्यकता है प्राकृतिक जीवन की पुनरावृत्ति की जो ब्रह्मचर्य आश्रम से अभ्यास में लाई जा सकती है।

यदि वर्णाश्रम की वास्तविक निर्दोष स्थापना अभीष्ट है जिससे, बिना किसी प्रतिनिधि सभा, चन्दापंथी समाजी कागजी व्यवस्था के स्वतः ही, श्वास-प्रतिश्वास के समान, कोई कागजी रिकार्ड न होने पर ब्राह्मण, वानप्रस्थ व संन्यासी द्वारा नेत्र, नासिका व कर्ण के कर्त्तव्यों के समान वेदप्रचार होता रहे तो इस आधुनिक सभ्य भाषा में कहलाने वाले **"जंगली" गुरुकुल बनाओ तभी कल्याण है।**

यद्यपि वानप्रस्थ ही वास्तविक "गुरु" बन सकता है परन्तु जिन्होंने जीवन भर शारीरिक श्रम नहीं किया, सुकुमार कृत्रिम भोजन, सुकुमार जीवन धन लिप्सा जिन्हें घेरे रही है वे विद्वान् स्वाध्यायशील होकर भी इस प्राकृतिक जीवन को ग्रहण नहीं कर सकते।

अपने सामने के सहज संभव कार्य को क्रियात्मक रूप देना कितना सरल है यह विचारणीय है। नगरों और तीर्थों का अपढ़ साधु शारीरिक साधना में बारहों महीने नग्न रहता है। क्या हम साक्षर मनुष्य इसका अभ्यास नहीं कर सकते? क्या निमोनिया, मलेरिया

और मृत्यु हम विद्वानों (?) को ही उक्त नियम पालन के कारण आ घेरेंगे ? ऐश्वर्यशाली जैनियों के पूज्य (साधु) रेल, मोटर, या पशुयान में यात्रा न करके सहस्रों मील पैदल ही चलकर धर्म प्रचार करते हैं। क्या हम, विहंगम ब्राह्मण बनकर वैदिक धर्म का प्रचार उस नीति से नहीं कर सकते ? क्या हमारे लिये यही महत्व है कि हम देहली व्याख्यान देकर डाक गाड़ी से लाहौर पहुंचें और वहां व्याख्यान दें ? क्या मार्ग भूमि में मनुष्य नहीं रहते अथवा मार्ग के गांवों का मस्तिष्क ऊसर है जहां वैदिक धर्म का बीज उग ही नहीं सकता ? क्या इन बड़े नगरों के मनुष्यों को ही धर्म जिज्ञासा विशेष रहती है ?

यद्यपि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य प्रमाणित करने वाले तथा दूसरों को अनृत पाठ पढ़ाने वाले नागरिक शिक्षितों, सभ्यों, वकीलों की कुशाग्र बुद्धि वैदिक दार्शनिकता को समझ सकती है किन्तु वे इसको आचरण में, अपने जीवन में परिणत नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करने से उन्हें अनृत की कमाई से हाथ धोकर भूखों मरना पड़ेगा। वैदिक सिद्धान्त की सत्यता को मानकर भी उनका सुकुमार जावन उसे व्यावहारिक रूप न दे सकेगा। वेदों की सत्यता को स्वीकार करके अनृत सुकुमार जीवन ही उन्हें सुखद, कल्याण पथ है ! **किन्तु श्रमशील, देहाती, जंगली किसान वैदिक दार्शनिकता की गहराई को न समझ कर भी इनके नियमों, तापस अभ्यासों का सहज में ही व्यावहारिक बना सकते हैं।**

व्यावहारिक बनाना हो तो वैदिक जीवन और वेदप्रचार है। इससे भिन्न वेद प्रचार में रह ही क्या जाता है। **वेद आचरण की वस्तु है केवल ईमान लाने को नहीं।** समाज सुधार का काम आज

देश ने स्वयं ले लिया है। कुरीतियों को नष्ट करने के लिये आज सब चिन्तिन हैं, किन्तु आर्यसमाज के सामने "वैदिक आदर्श" ही एक मात्र कार्यक्रम है, जिसके लिये इसका अस्तित्व है। वेदों का भौतिक ज्ञान वेद-प्रचार नहीं कहला सकता। पश्चिम के वैज्ञानिक विकास, भौतिक उन्नति को यदि 'वेदप्रचार' मान लिया जावे तो आज यूरोप के समस्त वैज्ञानिक, दार्शनिक, तत्वदर्शी तथा आविष्कारक, "वैदिक धर्मानुयायी" कहे जा सकते हैं चाहे उन्होंने 'वेद' का नाम भी न सुना हो। गणित विद्या वेदोक्त है किन्तु गणित का अध्यापक "महोम्मद हुसन" वैदिक धर्मानुयायी नहीं कहला सकता। वेद का जो आदर्श है और जिसकी ओर ऋषि का निर्देश था वह है "**श्रद्धा और कर्म**" अतः यदि हमें आवश्यकता है कि हम यथार्थ गृहस्थ, तपस्वी, वानप्रस्थ तथा त्यागी संन्यासी बनें तो हमें उस नींव को जिस पर "वैदिक जीवन" की इमारत बनानी है, प्राकृत रूप दे देना चाहिये। आज की व्यभिचारी सभ्यता के कोष में उस प्राकृत जीवन का नाम है "**जंगलीपन**"।

इसी जंगलीपन की हमें जरूरत है। अन्यथा समय आने वाला है जब जनता ठीक उसी प्रकार ऊबकर, जिस प्रकार पौराणिक काल में यज्ञों में रक्त धारा व मद्य की बौछरों से तंग आ कर कहने लगी थी ' हम उस ईश्वर को और उस ईश्वर के वेद को नहीं मानते जिस में मूक निरपराध प्राणियों को मार कर यज्ञ करने का विधान है" वेदों का पुनः विरोध करने लगेगी। " हम उस ईश्वर और उसके वेद को नहीं मानते जिसमें मिल, कल, कार खाने, ऐश्वर्य और नाना भोगों की विद्याओं का —पूंजीवाद का वर्णन है। हमें वेद की ऋक और यजु संज्ञाओं में ही मोहित न होना चाहिये। वास्तविक लक्ष्य तो " साम संज्ञा " ही है।

वेद की ऋक (Definition) यज (Application) में ही लगे रहने के कारण भगवान् कृष्ण के—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (गीता)

शब्दों के अनुसार हम आज वेदवादरता होते जा रहे हैं। क्योंकि हम Definition तथा Application से आगे बढ़ कर वेद की सामसञ्ज्ञा (Generalization) का साक्षात् नहीं करते और यजु संज्ञा को ही वैदिक लक्ष्य मानकर भगवान् कृष्ण के शब्दों में हम—

वेदों को भोगों के आश्रयदाता मानते हुये वेदों में ब्रह्म को न ढूंढ कर माया को ढूंढने में संलग्न है। सामसंज्ञा (Generalization) भी तो हमें वास्तविकता बतायेगी इसी साम से अनभिज्ञ, वेदवादरताः' के विषय में स्वयं वेद की व्यवस्था है:—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति? सामसंज्ञा (Generalization) ही वेद का चरम लक्ष्य है पदार्थ का विश्लेषण करके पदार्थ में रम जाना यजु धर्म का व्यभिचार है। **अतः जो आध्यात्मिक लक्ष्य है वह तो प्रकृति के मौलिक रूप में विद्यमान है, यदि हम उसे ग्रहण करें।**

(ङ) ब्रह्मचारीका प्राकृत जीवन

मनुष्य के आरम्भिक जीवन में, आवश्यकता है ज्ञानोपार्जन की, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के वह जीवनयात्रा यथावत् पूरी नहीं कर सकता। ज्ञानोपार्जन के समय आरम्भिक जीवन (विद्यार्थी जीवन) में

पालनपोषण के चार साधन हो सकते हैं—

(१) बालक के माता-पिता अपनी सन्तान के भरण–पोषणका उत्तरदायित्व पृथक् प्रथक् रूपसे अपने ऊपर लें। (२) बालक स्वपरिश्रम से अपनी आजीवका उपार्जन करें। (३) कोई अन्य व्यक्ति आजीविका सिद्ध कर दे। (४) भिक्षा और प्राकृत भोजन।

माताने बालक को शनैः शनैः घरकी तथा बाहरकी वस्तुओंका पाठ पढ़ाया है। उसे बोलना और भाषा समझना सिखाया है। बालकने चलना और हाथों से काम करना भी मां से ही सीखा है। "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।" वास्तव में माता ही पहला व्यक्ति है, जिससे बालकने वह बात सीखी है, और जो जीवन भर उसका पथप्रदर्शन करेगी। योग और व्यवकलन गुणा और भाग गणित को आरम्भिक साधारण क्रियायें ही गणित का आद्योपान्त जीवन है। ठीक इसी प्रकार माता की आरम्भिक शिक्षा मनुष्य के जीवन भरकी समस्त विद्याओं का मूल तत्त्व है।

शिशु के पालनकाल में माता द्वारा शनैः शनैः दी हुई आरम्भिक शिक्षाका कार्य बन्द हो जाता है। बालक ५, ६ वर्षका भी नहीं होने पाता, कि दूसरे शिशुका जन्म होजाने पर स्वभावतः माता को इस नवजात बालक के पालन–पोषण और शिक्षा का काम अनिवार्य हो जाता है। माताने बालकको जो कुछ सिखाया है, वह ऐसे काल में सिखाया है, जब कि बालक का पालन–पोषण के लिये उसके पास रहना अनिवार्य था तथा उतनी शिक्षा के बिना बालक का जीवन भर मूक बना रहना निश्चितसा था। उपर्युक्त काल में पितासे भी पर्याप्त साहाय्य पाकर बालक ने कुछ सीखा है। माता दूसरे बालक के जन्म हो जाने

पर पहले शिशु की व्यवस्था नहीं कर सकती। पिता को अपने विद्यार्थी-जीवन में उपार्जित विद्या के बलपर इस गृहस्थकाल में तीन उत्तर दायित्व तथा महत्त्व-पूर्ण कार्य करने होते हैं-(१) उत्पत्ति (२) पालन (३) भिक्षा दान। उक्त तीन कार्यों की पूर्ति में उसे इतना व्यस्त रहना है, कि वह आगे शिक्षा के कार्य को नहीं चला सकता। साथ ही उसे अपने विद्यार्थी जीवन में उपार्जित विद्या (ज्ञान) के बल पर अब कर्म करना है। क्रिया के फल से वह अभी अनभिज्ञ है। ज्ञान प्राप्ति के द्वारा कर्म करके फल प्राप्ति के पश्चात् मनन करके उसने विचार उत्पन्न नहीं किया है। इसलिये उसे आद्योपान्त क्रियात्मक अनुभव कुछ भी नहीं है। आद्योपान्त अनुभव न होने से वह बालक की अगली शिक्षा की निर्भ्रान्त व्यवस्था नहीं कर सकता। **अतः माता-पिता का घर बालक की शिक्षा का उपयुक्त स्थान नहीं है।**

माता-पिता का मोहमय स्नेह विद्या प्राप्ति के लिये स्वाध्याय के परिश्रम को पर्याप्त नहीं चलने दे सकता। गृहस्थ के घरेलू काम काज, माता-पिता का दाम्पत्य व्यापार, तथा उस प्रकार का चारों ओर का गृहस्थ वातावरण विद्यार्थी की एकाग्रता व संयम के लिये भयंकर रूप से बाधक होकर शिक्षा के कार्य को, जो केवल एकाग्रता व संयमित परिश्रम से सिद्ध हो सकता है, यथावत् न चलने देंगे। **अतः मातापिता का घर छात्र के छात्रावास के लिये भी उपयुक्त स्थान नहीं है।**

जब गृहस्थ में स्थित मनुष्य अपने पुत्र को सम्यक् प्रकार से उच्च शिक्षा देने के लिये उपयुक्त व्यक्ति नहीं हैं, तब वह दूसरों की सन्तान को किस प्रकार यथावत विद्या दान दे सकते हैं ? इस शिक्षा के लिये कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिये, जो अपने लिये निश्चिन्त हो तथा किसी

दूसरे की जिसे चिन्ता न हो। जो ज्ञान के पश्चात् ज्ञान के द्वारा कर्म करके फल का भी अनुभव प्राप्त कर चुका हो। जिसे क्रियात्मक अनुभव हो और जो इस अनुभव के पश्चात् अपने पूर्व अनुभूत ज्ञान कर्म के योग से मनन करके तीसरी वस्तु विचार की उत्पत्ति के लिये निश्चिन्त बैठा हो। यही व्यक्ति शिक्षा का वास्तविक स्रोत हो सकता है। **ऐसा व्यक्ति है गृहस्थ जीवन से उपराम प्राप्त करलेने वाला वानप्रस्थ।**

बालक को उपयुक्त गुरु और छात्रावास मिल जाने पर आवश्यकता है भरणपोषण की। हम ऊपर चार प्रकार के साधनों का उल्लेख कर आये हैं। उनमें से पहले साधन में वैषम्य दोष आ जाता है, क्योंकि ममता के कारण माता-पिता का आर्थिक सामर्थ्यनुसार बालक के भरण-पोषण की भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्था करना स्वाभाविक है। जिसके कारण बालकों में गैरियत के भाव होने से ईर्ष्या, वैर और विषाद जैसे दोषों का होना स्वाभाविक होगा जिसके फलस्वरूप भावी जीवन में स्वार्थभाव, संकीर्णता व प्रतिस्पर्धा के दोष उत्पन्न होकर वैर और हिंसा की वृद्धि होना अनिवार्य हो जायगा।

दूसरे साधन में प्रथम तो बालक अल्पायु होने के कारण किसी प्रकार भी स्व-पुरुषार्थ से कोई आजीविका उपार्जन कर ही नहीं सकते। कालान्तर में वयस्क होने पर भी वे विद्यार्थी आजीविकोपार्जन की कला से अनभिज्ञ होने के कारण सुव्यवस्थित आजीविका उपार्जन न कर सकेंगे। यदि उन्होंने कुछ प्रयास भी किया, तो उनका अधिकांश समय निर्वाह-समस्यापूर्ति में ही नष्ट हो जाया करेगा। अध्ययनकार्य, जो भावी जीवन के लिये पथप्रदर्शक है, ठीक ठीक न चल सकेगा।

तीसरे साधन में कोई अन्य समुदाय, चाहे वह राज्यशक्ति हो अथवा कोई दूसरा धनसम्पन्न व्यक्ति या विद्यार्थियों के संरक्षक। सब साधन संगृहीत करके भरणपोषण की समस्यापूर्ति कर सकते हैं। इस व्यवस्था में बृहत् आयोजन होगा क्योंकि उपर्युक्त साहाय्य द्रव्यका होगा जिसके कारण भृत्यादि साधनों की आवश्यकता होगी। जो न तो बालकों के स्नेही पितृवर्ग होंगे न स्वतः राज्य अथवा धन सम्पन्न व्यक्ति होंगे। यह भृत्यसमुदाय उक्त विद्यार्थियों का भरण पोषण उदासीनता से-विरक्ति से- आजीविका के लिये विवश होकर करेगा? जिससे स्नेह, जो जीवन में आकर्षण और प्रफुल्लता को जाग्रत करता है, इन विद्यार्थियों को नसीब न होगा। स्नेह के अभाव में उनका उत्थान, प्रगति, निस्तेज, उत्साह विहीन रहेगी जो भावी जीवन के लिये एक भारी त्रुटि होगी। पहले और तीसरे साधन से यह दोष विशेष होगा कि वे विद्या-समाप्ति पर स्वावलम्बन न कर सकेंगे। दूसरे का अवलम्ब ग्रहण किये बिना उनकी प्रगति कष्टसाध्य और मंद होगी।

जन्म होते ही माता के स्तन से शिशु को दूध मिला था। यही प्रकृति की स्व-प्रदत्त प्राकृतिक आजीविका थी। उस समय (शैशवकालमें) शरीर अपूर्ण, असमर्थ और अशक्त था। अब भी (विद्यार्थी-जीवन में) प्रायः वही त्रुटि है। शरीर तथा मस्तिष्क को बनना है-पूर्णता प्राप्त करनी है। दूध जहां सर्वप्रथम प्राकृतिक अहार है वहां सब प्रकार पूर्ण विशुद्ध तथा पोषणयुक्त भी है। यही एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें शरीर को नीरोग तथा पोषण करने वाले सब द्रव्य पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। संसार के प्रत्येक कार्य--सम्पादन में कुछ न कुछ अनुभव, ज्ञान, अभ्यास व श्रमकी आवश्यकता है। गोपालन ही एक मात्र ऐसा कार्य

है, जिसमें यदि पर्याप्त गोचर भूमि हो तो कुछ विशेष अनुभव, ज्ञान, अभ्यास व श्रम अपेक्षित नहीं है। विद्यार्थी अध्ययन करते हुये भी गौ चरा सकता है। गौ चराते हुये भी अध्ययन कर सकता है। माता की गोद में पयःपान करता हुआ बालक देख कर सुन कर अनुकरण करके वस्तुपाठ पढ़ता था, अब वह गो–दुग्धपान करके गौ चराता हुआ विद्या पढ़ सकता है। अनुभव, ज्ञान व अभ्यास न होने पर भी थोड़े से श्रम से इस गोपालन में जहां समय का द्विगुण उपयोग होता है वहां विद्यार्थी सहज में अनायास ही स्वावलम्बन की महान विधि जान जाता है। स्नेहमयी माता की गोद में उसे अन्न के छोटे–छोटे कौर मिलते थे। अभी उसका विकास काल है, वह उस स्नेह–युक्त आहार से वंचित न हो, इसलिये अब वह अपनी माता, अपने सहपाठियों की माता तथा प्रत्येक स्त्री से जो मातृत्व प्राप्त कर चुकी है, कौर के लिये "भवती भिक्षां देही" कहकर अन्न लेता है। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी धनी या निर्धन गृहस्थ से अल्प वा प्रचुर, शुष्क वा स्निग्ध अन्न लाकर भण्डार में बांट कर खाता है। इस "बांट कर खाने" में क्या आनन्द है, यह अनुभव का विषय है, कहने का नहीं। घर–घर से प्रत्येक माता का स्नेह मिश्रित अन्न मिलता है। भ्रमण–प्रयत्न द्वारा प्राप्त होने से इसमें अधिकांश स्वोपार्जन ही है, किन्तु घर घर की स्नेह मिश्रित कृपा होने से मनुष्य मात्र की कृतज्ञता की दीक्षा मिलती है।

प्रत्येक गृहस्थ माता विद्यार्थी को अन्न भिक्षा देते हुये जानती है, कि उसका विद्यार्थी भी किसी गृहस्थ माता से भिक्षान्न प्राप्त कर रहा होगा। प्रत्येक गृहस्थ माता अभ्यागत विद्यार्थी के आतिथ्य के लिये सहर्ष तत्पर है। भिक्षान्न अल्प है या प्रचुर, किन्तु उसमें स्नेह और

श्रद्धा की पोषण शक्तिका होना स्वाभाविक है।

यह भिक्षा और गोपालन ही उसकी निर्दोष आजीविका है। यह अन्नदान ही प्राकृतिक भिक्षा है यही वास्तविक साहाय्य है, जो बिना काल, किसी कागजी व्यवस्था—नीतिविधान के समाज के निर्माण में शरीर में रक्त संचालन से समाज स्वतः जारी रह सकता है।

ब्रह्मचर्य

शरीर तथा मस्तिष्क को पूर्णता प्राप्त करनी है। उसे अभी लेना है, देना कुछ नहीं। उसे निर्दोष पुष्ट आहार की आवश्यकता है, जो उसका विशुद्ध परिपोषण करे। उसका सार तत्त्व अभी परिपुष्ट भी नहीं हुआ। परिपुष्ट होने के बाद कहीं परिपक्व होगा। तब उससे व्ययकी आशा की जा सकेगी। अतः जहां उसकी क्षति न होना अनिवार्य है, वहां उसके पोषण में दोषयुक्त किसी विजातीय द्रव्य का न आना भी अनिवार्य है। उसे अध्ययन करना है अतः उसके पास किसी भी ऐसे कार्य के सम्पादन में, व्यय करने के लिये व्यर्थ समय नहीं है, जो न उसके शारीरिक और मानसिक विकास का निमित्त है और न अध्ययन-कार्य के लिये उपयोगी है। उसे मनन करना है और मनन किये हुये को स्मरण करना है। उसके लिये एकाग्रता की अतीव आवश्यकता है। अतः उसको समस्त मनोरंजक तथा चित्तको चंचल करने वाली वृत्तियों से दूर रखना है। इस प्रकार आविष्कार-शून्य, पूर्ण प्राकृतिक जीवन के पश्चात् उस विद्यार्थी का यह ब्रह्मचर्य-काल समाप्त होता है। इस ब्रह्मचारी को भावी जीवन के लिये तत्त्वज्ञान (विद्या) गुरुवर्ग से भिक्षा में विना किसी वस्तु प्रदान के मिली है। उसका विद्यार्थी जीवन का वह शरीर गृहस्थ माताओं द्वारा प्रदानित अन्न से पाला है। उसका

न तो उसने कोई मूल्य दिया है और न अन्नप्राप्ति के फलस्वरूप कोई ऐसा कार्य ही किया है, जिससे उस अन्नका मूल्य चुक जावे ।

इस प्रकार सम्बद्ध सामाजिक व्यवस्था ब्रह्मचारी व समाज के लिये पूर्ण प्राकृत है । यदि प्रत्येक ब्रह्मचारी के अन्त:करण पर यह अंकित न भी किया जावे, कि उसने सामाजिक परम्परा को निर्दोष, सर्वांगपूर्ण तथा सुचारु, प्रगतिशील रखने के लिये व्रत किये हैं, कि वह भावी जीवन में भावी विद्यार्थियों को उसी प्रकार सहज प्राकृतिक नियम द्वारा तत्व-ज्ञान बतायेगा जिस प्रकार उसने अपने आचार्य से प्राप्त किया है, वह भावी विद्यार्थी के पोषणके लिये वही प्राकृतिक नित्य नियम वर्तेगा, जो उसके विद्यार्थी जीवन में दूसरे गृहस्थों ने वर्ता है, तो भी उसका विद्यार्थी जीवन इतना प्राकृत, इतना अभ्यस्त तथा इतना स्वाभाविक बना दिया गया है; कि यदि वह उक्त परम्परागत व्रतों को भूल भी जावे अथवा उपेक्षित भी कर दे, तो भी उसका चिर अभ्यस्त स्वभाव उससे निर्दोष प्राकृतिक सामाजिक व्यवस्था का स्वत: सहज में ही पालन करा लेगा जो उसके गत जीवन के अभ्यास से उनका स्वभाव बन गई है । यदि अपवादस्वरूप उसने अपने भावी जीवन में दूसरों को तत्वज्ञान सिखाने में प्रमाद भी किया, विद्यार्थियों के भरण-पोषण में परम्परागत स्वप्रवाहित सहयोग का अंग न भी बना, तो भी वह किसी प्रकार उस निर्भ्रान्त शृंखला के लिये अनिष्ट का कारण न होगा क्योंकि उसके गत जीवन में भिक्षा प्राप्ति के कारण अहंकार, अहंमन्यता तथा स्वार्थ का अंकुर ही उत्पन्न नहीं हुआ । अत: उसका चिर अभ्यस्त साम्यवाद का प्राकृतिक जीवन संसार के किसी नूतन आविष्कृत कृत्रिम विधान को पनपने न देगा ।

भूखसे पीड़ित होने पर खाया हुआ विष-मिश्रत भोजन अपने भयानक प्रभाव को नहीं छोड़ता। वह भूखे की बेबसी के कारण उसे क्षमा नहीं कर सकता। परिस्थितियों के दूषित तथा व्यभिचारी बना दिये जाने पर विवशता से अप्राकृतिक नियमों द्वारा किया गया कृत्रिम कार्य अनिष्टशून्य नहीं हो सकता। राज्य देशी हो वा विदेशी, साधन उपलब्ध हों व नहीं, निर्दिष्ट स्थान तो यथार्थ मार्ग से ही मिलता है। सच्चा सुख और उत्कर्ष तो सरल मार्ग से मिलेगा गरल से नहीं। जब जन्मान्तर के अशिव संकल्प प्राकृत जीवन के अभ्यास होनेपर भी सदाचार से विमुख कर देते हैं, तब ब्रह्मचारियों को कृत्रिम जीवन का अभ्यास करा-कर उनसे सदाचार, सत्याग्रह की आशा करना आकाशकुसुमवत् एक हास्यास्पद अभिलाषा है।

हमारा वर्तमान उद्योग

(क) भारत का अर्थ संकट और शिक्षा

किसी कार्य के सम्पादन में चार अवस्थायें आती हैं (१) आरंभ (२) प्रगति (३) समाप्ति और (४) परिणाम। यद्यपि प्रत्येक कार्य में उपर्युक्त चारों बातें आवश्यक होती हैं; किन्तु सब से पहिले आरम्भ की ही चिन्ता होती है। आज देश की लक्ष्मी अलंकारशून्य हो चुकी है। जहां, आज पेट की समस्या हो जटिल हो रही हो वहां शिक्षा के लिये धन कहां-किस पुनीत कोष से आवे! इसलिए इस दरिद्र देश में '**धन**' की भित्ति पर आरम्भ होने वाले शिक्षा विधान का 'आरम्भ' होना ही जटिल समस्या है। यदि किसी जोड़-तोड़ से आरम्भ भी कर दिया गया तो उसकी 'प्रगति' के लिये धन कहां से आवे! यदि कतिपय धनसम्पन्न व्यक्तियों की चापलूसी करके, उन्हें बहका-फुसला कर धन प्राप्त करके—इस याचना से कुछ प्रगति की भी तो उसकी समाप्ति पर परिणाम क्या होगा?

यद्यपि शिक्षा आजीविका उपार्जन करने के लिये नहीं है तो भी शिक्षित व्यक्ति को अपनी आजीविका उपार्जन तो करनी पड़ेगी ही, चाहे वह शिक्षित मस्तिष्क द्वारा हो अथवा शारीरिक श्रम द्वारा। आज स्कूल-कालेज के शिक्षितों के सामने आजीविका समस्या कितनी जटिल हो रही है, यह किसीसे छिपा नहीं है। वस्तुतः लेख, वेदप्रचार के माध्यम

कहलाने वाले, स्नातकों की आजीविका के सम्बन्ध में है। जो व्यक्ति अपने पुत्र को गुरुकुल में पढ़ाता है वह एक खासी रकम शुल्क रूप में उसके पालन-पोषण के लिये व्यय करता है। आजीविका के प्राकृतिक पवित्र साधन तो न जाने कब से लुप्त हो चुके! अब तो कृत्रिम साधनों से भी सर्व साधारण को इतनी आय नहीं कि वे सन्तान उत्पन्न करके उसे शिक्षा दे सकें। कृत्रिम साधनों द्वारा आजीविका उपार्जन का द्वार भी बन्द हो चुका, किन्तु अब छल-कपट से आजीविका के साधन भी दृष्टि-गोचर नहीं होते। जो व्यक्ति अपनी सन्तान के पालन-पोषण में एक अच्छी राशि शुल्क-स्वरूप दे देता है वह आशा लगाये रहता है कि उसका स्नातक पुत्र धन विनियोग (Investment) से ड्योढ़ा तो उपार्जन करने लग जावे; क्योंकि उसकी सन्तान को भो उसी शिक्षा शैली के नकुये से होकर जाना है।

जो ब्रह्मचारी बीस-पचीस रुपये मासिक केवल अपने शरीर के भरण पोषण पर व्यय करता रहा है उसे अब आगामी जीवन में पदार्पण करने से पहले ५०) रु० मासिक आय की व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

(१) प्रथम वे धनसम्पन्न व्यक्ति हैं जो गुरुकुलों के शुल्क से कई गुना अधिक व्यय कर सकते हैं। ये महानुभाव अपनी सन्तान को गुरुकुलों में पढ़ाने के स्वप्न में भी इच्छुक नहीं, क्योंकि उनकी सम्मति में गुरुकुलों का वातावरण जंगली है। वे अपने लड़ैते सुकुमार बच्चों को ऐसे स्थान में भेजना '**अनाथ बनाना**' समझते हैं। उनकी सन्तान के लिये वही पूंजीवाद का वातावरण और शिक्षा आदर्श है, जहां सभ्य-कूट नीति से धन बटोरना ही पुण्य माना जाता है, चाहे उस नीति से सैंकड़ों मनुष्य दर-दर भिखारी बन रहे हों। दूसरे यह समुदाय धन बटोरने, विलास

करने तथा कुछ दान करके सब कालिमा धो लेने से ही अपने मनुष्य जीवन को कृतकृत्य समझता है। वह अपनी सन्तान को "दान का अन्न खाकर" ब्राह्मणपन से रहने को कल्पना मात्र से घबराता है। यही कारण है कि इस समुदाय के सम्पत्तिशाली लोग अपनी अप्राकृतिक कमाई से गुरुकुलों की भरसक सहायता करके भी अपनी सन्तानों को गुरुकुलों में भेजने का विचार-मात्र भी नहीं करते।

(२) दूसरी श्रेणी के वे व्यक्ति हैं, जो आजीविका समस्या से निश्चन्त हैं। हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रह कर भी जीवन भर खा-पहर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति यह समझ कर कि बालकों को पढ़ाना ज़रूरी है, अपने बच्चों को स्कूल कालेजों में न भेज कर गुरुकुल में पढ़ा लेते हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के खाते पीते वे व्यक्ति जो या तो ब्रिटिश रामराज्य (?) में वेतनभोगी हैं या सूद, ज़मीदारी, विदेशी माल के व्यापार, जैसे सहजसाध्य कृत्यों को करते हुये धन कमाते हैं। ये या तो श्रद्धावश अथवा इस कारण से कि जब सरकारी नौकरी का द्वार बन्द है तो स्कूल कालेजों में लड़कों को क्यों पढ़ाया जावे, गुरुकुलों में ही अपनी सन्तान को जोड़ तोड़ करके पढ़ाने की अयोजना करते हैं, और अन्त में अपनी सामर्थ्यानुसार अपने स्नातक पुत्रों को किसी उदार-अनुदार व्यापार-मार्ग में घसीट लाते है। किन्तु जो इतनी व्यवस्था भी नहीं कर सकते उनकी सन्तान के लिये तो "**वेद प्रचार**" की नौकरी ही एक मात्र अवलम्बन रह जाता है।

अमेरिका और फ्रान्स की तरह अब भारतवर्ष सोने की लंका नहीं रहा। इस देश की आर्थिक अवस्था इतनी अवनत है कि यहां के निवासियों से वेद प्रचार के लिये 'भिक्षान्न' भी प्राप्त नहीं हो सकता।

नगरों की विलासिता से सुदूर जंगलों में रह कर सादा जीवन व्यतीत करते हुये जिस गुरुकुल विद्यार्थी के २५) रु० मासिक भोजन आदि में व्यय हो जाते हैं उसके लिये, स्नातक बन कर पाश्चात्य प्रणाली का अनुकरण करने वाले नगरों में बसने पर ५०) रु० मासिक से भी कम पर निर्वाह करना कैसेसम्भव हो ? फिर भी—**'मजबूरी का नाम शुकर'** इस मसल के अनुसार अन्त में निर्वाह–मार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर स्नातक मंडल का बचा हुआ यह छोटासा भाग 'वेदप्रचार' पर ही सहमत होगया है, परन्तु इस अल्पसंख्यक समुदाय के लिये भी देश की जेब खाली हैं।

यद्यपि दानदाताओं को यह दुराशा थी कि वे उत्सुकता से टकटकी लगाये गुरुकुलों की ओर इसी आशा से देख रहे थे कि **'हम जो कुछ गुरुकुल को दे रहे हैं उसे खाकर पीकर "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के दिगन्त वीर निकलेंगे**।' गणित, भूगोल, विज्ञान, इतिहास के लिये तो अनेक स्कूल कालेज थे। गुरुकुलों से तो उन्हें केवल "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की ही आशा थी। उनकी यह आशा उचित हो या अनुचित, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने गुरुकुलों को **"ब्राह्मण बनाने वाला कारखाना"** समझ कर ही "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की कामना से उन्हें धन दिया था, और अपनी सन्तान को ब्राह्मण बनाना उन्हें अभीष्ट न था, इसी से उन्होंने अपनी सन्तान को गुरुकुल में नहीं भेजा। अब या तो देश इतना मालामाल हो जावे कि किसी शिक्षित व्यक्ति के लिये १५०) रु० मासिक फेक देना कंकर देने के समान हो और या फिर स्नातकों का जीवन बौद्ध भिक्षुओं की तरह इतना संयत बना दिया जावे कि 'निर्वाह' के लिये उन्हें विचारमात्र की आवश्यकता न हो। यही कारण

है कि हमारे गुरुकुलों का आरम्भ जटिल, माता-पिता का अपनी सन्तान को गुरुकुल में भेजना जटिल, यदि आरम्भ कर भी दिया हो तो उसका चलाना, उसका भरणपोषण जटिल और अन्त में स्नातक कैसे निर्वाह करे यह भी जटिल। जब नश्वर शरीर के लिये तुच्छ सी निर्वाह समस्या ही जटिल हो तब 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का विचार ही कहां से हो ? कैसे चले ?

उपर्युक्त प्रकार के तीन चौथाई भाग को केवल पूंजीवाद की आराधना करनी है। उसे वैश्य भी नहीं बनना है, अपितु "वित्तेषणा" अप्राकृतिक "वित्तेषणा" को पूरा करना है। उसे संसार के जनसमुदाय की तरह इस पंचम वर्ण से नाता जोड़ना है, शेष अल्पसंख्यकों के लिये "आजीविका" निमित्त 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का प्रचार मात्र करना ही शेष रह जाता है। यही कारण है कि "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के भक्तों को निराश होना पड़ रहा है।

यदि यह स्वीकार कर लिया जावे कि योगेश्वर जनक और कृष्ण की तरह साधारण व्यक्ति भी सांसारिक विषयों में रमण करते हुये, भोगों को भोगते हुये भी जितेन्द्रिय, संयमी और तपस्वी बन सकते हैं। वेदप्रचार तप, त्याग और संयम के बिना भी हो सकता है। ब्रह्मचर्य कठोरता के प्रतिकूल सुकुमारता से भी सिद्ध हो सकता है। पंच यम, तप, त्याग और प्राकृतिक जीवन व्यक्तित्व के लिये भले ही जरूरी हों, परन्तु 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के लिये उनका होना अनिवार्य नहीं; यदि यह भी मान लिया जावे कि प्राचीन ऋषियों की शीलोञ्छ-वृत्ति, राम, सीता का बन का 'जंगली जीवन' तथा ऋषियों के आश्रमों की दारिद्र्यपूर्ण पर्णकुटियां कल्पित कवितायें ही हैं। उनमें ऐतिहासिक तथ्य

कुछ नहीं। और यदि अपने को बहका कर यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि तप, त्याग, सादगी और 'जंगलीपन' एक बिडम्बना, कल्पित आदर्श है तो भी अब भारत के पास इतना धन नहीं है कि वह इन मंहगे गुरुकुलों–शिक्षा के केन्द्रों–को जीवित रख सके। देश इनके पालन–पोषण में अशक्त है। यत्र तत्र से धन बटोर कर प्रदर्शिनी के रूप में दो-चार गुरुकुल चला लेने से शिक्षा-समस्या पूर्ण नहीं हो सकती। अधिक गुरुकुलों को देश अपना हाड़-मास देकर भी नहीं चला सकता।

वह दिन दूर नहीं है जब शुल्क से दूना न कमा सकने की दशा में स्नातक, धन न मिलने की दशा में सञ्चालक, और धन न दे सकने की हालत में जनता 'गुरुकुल' से विरक्त हो जायगी। तब शायद यही सिद्धान्त स्थिर होगा कि गुरुकुल या तो पश्चिमी सभ्यता के इस जगमगाते युग के लिये उपयुक्त माध्यम नहीं है, अथवा 'गुरुकुल आदर्श' भव्य कविता से अधिक महत्व नहीं रखता।

(ख) हमारे आधुनिक गुरुकुल

हमारे आधुनिक गुरुकुलों से निराश होकर जो आर्य महानुभाव गुरुकुल से उदासीन व विरक्त हो चुके हैं आर्षकुल की योजना में उनका विश्वास होने की सम्भावना नहीं है। दूध के नाम से जिसे आटे का पानी पिलाया गया है और जिसे उस श्वेत प्रवाही वस्तु में दूध का विख्यात स्वाद व गुण नहीं मिला वह सहसा दूध को पाकर भी उसमें

विश्वास न करे तो कोई आश्चर्य नहीं। हमारी "गुरुकुल" नामधारिणी संस्थाओं का नाम गुरुकुल अवश्य है, किन्तु किसी विशेषण के जोड़ देने से ही कोई वस्तु विशेष्य नहीं हो जाती। "गुरुकुल" शब्द की निरुक्ति के वा सौत्र स्मार्त परिभाषा के विस्तार में न जाकर इस यौगिक शब्द का केवल यौगिक अर्थ ही सर्वमान्य प्रतीत होता है। "कुल" शब्द समुदाय का सूचक है जो कुटुम्ब का परिवर्धित रूप है। "गुरु" का परिवर्धित कुटुम्ब कभी "वेतनभोगी" "नाकर" नहीं हो सकता। हम वेतन भोगी के—नौकर के शरीर को खरीद सकते हैं। नौकर का हृदय तो उसे कुटुम्ब का अंग बनाकर ही अपनाया जा सकता है। दोष आने पर–अपराध करने पर अंग को दंडित किया जा सकता है ताकि दोष का निराकरण हो जावे। पृथक्करण तो नाश होने पर ही होता है "कुटुम्ब" व "कुल" हीन व दोषयुक्त भी हुआ करते हैं। उन्हें "हीन कुटुम्ब" "नीच कुल" आदि शब्दों से पुकारा जाता है, परन्तु उन में कुटम्बपन "कुलपना" तो रहता ही है। यदि हमारी संस्थाओं में "कुलपना" हो और उन में दोष भी हों तो उन्हें "हीन-गुरुकुल" "नीच गुरुकुल" कहा जा सकता है, किन्तु इन में "कुटुम्बपना" न होने से "कुल" शब्द इन पर लागू ही नहीं होता, भले ही ये संस्थायें आदर्श हों। और यदि हम आधुनिक संकर-समय के दोषों से उस माननीय "कुलपने" को व्यावहारिक रूप नहीं दे सकते तो "गुरुकुल" विशेषण का उपयोग करने की ही ऐसी क्या जरूरत है? **हम इसे अपनी दूकानदारी का आधार क्यों बनावें** ? विषमिश्रित होने पर भी यदि मिठास है—"मिठाई" के लक्षण हैं तो वह मिठाई कहलायेगी। यदि अधिक स्पष्ट करना ही अभीष्ट होगा तो उसे "विषमिश्रित मिठाई" कहा जा सकेगा किन्तु सुगन्धित और गुणकारी होने पर भी

"अगरबत्ती" मिठास न होने से मिठाई नहीं कही जाती। "परिव्राजक" और "आनन्द" शब्द तथा उसके वेषभूषा को तो पुत्रकलत्र वाले गुसाईं भी उपयोग में ले आते हैं। अतः हमारे आधुनिक गुरुकुल सदाचार में हैं वा आनाचार में—अनृत के पथिक हैं वा ऋजु पंथ के इस वितण्डा-वाद में न पड़कर पहले हमें इनमें 'कुलपना" लाना चहिये, अन्यथा "गुरुकुल' शब्द से इन्हें मुक्त कर देना उचित है। जब स्त्री-पुरुष आत्मा से, हृदय से, मिले ही नहीं तो उन्हें गृहस्थ किस प्रकार मान लिया जावे? मकान में रहने, चूल्हे का पका भोजन खाने तथा वस्त्र पहनने को तो "गृहस्थ" नहीं कहा जा सकता। अतः जिन संस्थाओं से हम निराश हुये हैं, वे न "कुल" थीं, न हैं और भविष्य में बनेंगी, सो कहा नहीं जा सकता।

(ग) हमारे वेतन भोगी कुल-गुरु

अर्थशास्त्र का यह सहल न्याय है कि क्रीत वस्तु या तो क्रय-कर्त्ता के निजी उपयोग में आनी चाहिये, अथवा वह क्रयकर्ता द्वारा व्यापारिक दृष्टि से कुछ लाभ पर बेच दी जानी चाहिये। जब लिपि व भाषा बोध मूल्य देकर क्रय किया गया है तब ग्राहक को यह प्रवृत्ति कि 'वह उसे अपने निजी स्वार्थ साधन के निमित्त काम में लावे अथवा व्यापारिक दृष्टि से कुछ लाभ लेकर बेच दे' स्वाभाविक ही है।

जिन्होंने लिपि व भाषा का ज्ञान विद्यार्थियों के हाथ बेचा है उनकी आत्मा व मन विद्यार्थियों के साथ नहीं था। उनका सब कुछ

उस द्रव्य में केन्द्री-भूत हो रहा था जिसके निमित्त वे विद्यार्थियों को भाषा व लिपि-ज्ञान बेच रहे थे। बाजार के दूकानदार के हृदय में यह भावना नहीं थी कि उसकी दुकान की रोटियें उसके ग्राहक के शरीर में शुद्ध रक्त को उत्पन्न करें, वह उनको खाकर सुखी, स्वस्थ व दीर्घजीवी होवे। यह पवित्र भावना, अभिलाषा तो मां, बहिन और पत्नी ही कर सकती हैं। दूकानदार का दृष्टिकोण तो भोजन को देखने में सुन्दर तथा खाने में स्वादु बनाने का है।

बनवासी वानप्रस्थ निर्वाह के लिये कुछ नहीं कर रहा है, निर्वाह समस्या तो बनस्थित गौत्रों के दूध व कन्दमूल फलों से स्वतः सिद्ध हो रही है। कुछ विद्यार्थी उसके चतुर्दिश ऐकत्रित होगये हैं वानप्रस्थ को गत २५ वर्षों का कटु, मृदु अनुभव है, यौवनकाल में वह अनेक बार काम, क्रोध, लोभ मोहादि से आहत हो चुका है। बार बार आहत होकर उसने स्वास्थ्य लाभ किया है। यह अनुभूत अनुभव ही विद्यार्थियों के लिये एक निश्चयात्मक शिक्षा है जो उनके जीवन का पथ प्रदर्शन करेगी। वेतन भोगी ग्रहस्थ गुरू काम, क्रोधादि के आखेट होरहे हैं। वे किस कारण से आखेट हुये, इनसे कैसे बचें तथा इन आक्रमणों का कैसा प्रभाव तथा क्या परिणाम होता है इनका उन्हें स्वयं पता नहीं तब वे इनके विषय में आगे आनेवाली सन्तान को क्या परिचय दे सकते हैं ? दूसरे वे सरकस के जन्तुओं की नटकला के समान अपने साहित्य गणित, भूगोल, इतिहासादि की कलाओं को बेचने के लिये बाजार में उतरे हैं। वे दूकानदार हैं। दूकानदार का कर्त्तव्य ग्राहक के हाथ अपना माल बेचना है। दूकान का माल स्वयं पसन्द हो या न हो किन्तु ग्राहकों के सामने उस माल की वे शक्ति भर स्तुति गाते हैं। उन्हें स्वयं

खादी प्यारी नहीं, किन्तु ग्राहकों के सामने खादी-कीर्त्तन करना उनकी दूकानदारी, नौकरी का मुख्य अंग है। स्वयं हरिभजन में विश्वास न हो किन्तु ब्रह्मचारियों को ड्रिल की तरह सन्ध्या हवन कराना पड़ता है। जिस प्रकार मदारी का बन्दर डन्डे के आंतक से सब अभिनय कर डालता है उसी प्रकार आजीविका के लिये हमारे वेतन भोगी '**कुलगुरु**' बालकों को संध्या हवन की कवायद कराते और स्वयं अपरिचित होकर भी "वैदिक-जीवन" का रहस्य उन असन्तुष्ट विद्यार्थियों के कण्ठ में उतार ही देते हैं।

मनोविज्ञान का यह एक प्रबल सिद्धान्त है कि हम किसी व्यक्ति के प्रिय विषय का भी परिज्ञान उससे बलात प्राप्त नहीं कर सकते। कोई व्यक्ति संगीत-कला में परम प्रवीण तथा उसका अनन्य रसिक हो किन्तु कोई भी व्यक्ति उससे बलात् गायन नहीं करा सकता। यदि कोई ऐसा करायेगा भी, तो वह गायन कला व माधुर्य की दृष्टि से बहुत ही तुच्छ होगा। गानेवाला हृदय होता है, कण्ठ का मधुर स्वर नहीं, फिर अरसिकों से, जिनका वह मनोनीत विषय नहीं, उस कला की बलात् वा आजीविका का लोभ देकर शिक्षा दिलाने से उस शिक्षा में कितना पोलापन होगा यह विचारने की बात है।

हमारे गुरुकुलों के वेतनभोगी (क्रीत) गृहस्थ 'कुलगुरू' आजीविका के लोभवश '**मैं राजा का जप करूं**' के आधार पर लौकिक और पारलौकिक परा और अपरा विद्याओं का बालकों के कण्ठ में उतार देते हैं। यद्यपि इस व्यवस्था में न उनकी श्रद्धा होती है न रुचि।

इस प्रकार यम नियमों में अनभ्यस्त

'कोऽहं, किं करोमि, क्व गच्छामि' का सन्तोषजनक, युक्ति प्रत्यक्ष

उत्तर न पाकर संदेह के झूले में झूलता हुआ स्नातक संसार सागर में आ पड़ता है। जनता उसमें कुछ भी प्राकृत न पाकर गुरुकुलों से निराश होजाती है।

संसार के कर्म प्रत्यक्ष व परोक्ष, भौतिक व आध्यात्मिक हुआ करते हैं। आध्यात्मिक कर्मों का सूक्ष्मतम भाग 'श्रद्धा' होता है और स्थूलतर भाग 'अभ्यास' कहलाता है। प्रत्यक्ष वा परोक्ष, भौतिक वा आध्यात्मिक कर्म जब सहर्ष स्वकर्त्तव्य समझकर किया जाता है तब वह निर्मल, विशुद्ध व पूर्ण फल देता है किन्तु स्वकर्त्तव्य समझ कर न करनेवालों से जब यह बलात् कराया जाता है तब इसका फल अल्पायु शक्तिहीन हो जाया करता है। शारीरिक व्यायाम आदि कर्म भौतिक कहलाते हैं। स्व कर्त्तव्य समझ कर न करने पर इनका बलात् कराया जाना भी अच्छा है यद्यपि इस बलात् कर्म विधान का फल उतना सुन्दर नहीं होता। आध्यात्मिक कर्मों में 'सत्य भाषण' आदि कर्म 'अभ्यास' कहलाते हैं। इनका भी बलात् कराया जाना हितकारी हो है किन्तु आध्यात्मिक कर्म 'श्रद्धा' बलात् कराये जानेवाला कर्म नहीं है। यह बल प्रयोग करने पर विद्रोही होकर नास्तिक बन जाता है। संध्या और हवन 'श्रद्धा' कर्म हैं। इनके सम्पादन में बल प्रयोग नास्तिकता का सूत्रपात करता है। ये तो 'श्रद्धा' से प्रवाहित किये जाने वाले सूक्ष्मतम प्रवाह हैं। यही कारण है कि गुरुकुलों में बलात् कराये जाने वाले 'संध्या हवन' विद्रोही होकर अविश्वास का मूर्त कर देते हैं

रोग का निदान

आशा के प्रतिकूल फल को देख कर सहसा शंका होती है इसका कारण क्या है ? यदि हम कसौटी की परख के अनुसार कारण ढूंढें, तो

वे हमें गुरुकुलों की आधार शिला में एक एक कर के सब मिल जांयगे।

गुरुकुलों का शैशव—गुरुकुल ऐसे व्यक्तियों द्वारा आरम्भ किये गये जा उनकी मूर्ति से अनभिज्ञ थे, जो लग भग १५ वर्ष की आयु में ही पिता बन चुके थे, जो नगरों के दूषित वातावरण में उत्पन्न हुये, पले और पढ़ाये गये थे, उनके लिये गुरुकुल एक न सुना, न देखा और न चला मार्ग था। अतः उनकी सब त्रुटियें परीक्षण रूप से स्वाभाविक थीं। माता पिता भी गुरु कुल को अपनी सन्तान के लिये एक नवीन कष्टदायक काला पानी समझते थे, शनैः शनैः कोमल चरण कठोर अवनि पर चलते २ कठोरता अर्चन कर लेंगे ऐसा सब का विश्वास था। लाला बाबुओं के सुकुमार पुत्र जब स्नातक बनकर अर्ध तपस्वी बन जावेंगे और जब वे '**कुलगुरु**' बनेंगे तब तो उन का जीवन, वेश भूषा, खान पान पूर्ण प्राकृत ऋजु तपस्वी होगा, उनके शिष्य उनसे अधिक तपस्वी होंगे। इस प्रकार शनैः शनैः अभ्यास करते करते इस कंगाल दुर्भिक्ष पीड़ित भारत के होनहार तपस्वी स्नातक उत्तरोत्तर यमनिष्ठ, उर्ध्वरेता कोपीन धारी योगी मुनि होकर निकला करेंगे, लेकिन हुआ इसके बिल्कुल प्रतिकूल। तपस्या का अभ्यास करते करते स्नातक विलासप्रिय बन गये। कंगाल भारत का उद्धार करनेवाले पीत वस्त्र धारी कोपीन की तलाश में फैशनेबुल बाबू बन बैठे। कठोर पृथ्वी पर चलने का अभ्यास करने से पगतल कठोर न बनकर उत्तरोत्तर कोमल बनते जाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कठोरता का अभिनय किया गया है। गुरुकुल तपस्या के अभ्यास के शिक्षा केन्द्र नहीं अपितु तपस्या के अभिनय की नाट्यशालायें हैं, जहां बालकों को तपस्वियां का स्वांग खिलाना सिखाया जाता है, और सिखाने वाले हैं तपस्या से विरक्त किन्तु पैसे के लोभ में तपस्या का बलात्

कीर्त्तन करनेवाले 'वेतनभोगी' "कुलगुरु"।

दूध पीने वाले मजनूं

मजनूं बनना तो क्या कोई मजनूं कहलाना भी पसन्द नहीं करता किन्तु जब बाजार में मजनूं (पागल) की मांग हुई, 'दूध उसे मिलेगा जो मजनूं हो' ऐसी घोषणा जब की गई तो दूध के लोभ से अनेक भले चंगे मजनूं का अभिनय करने लगे। खून देने वाले (आत्म त्याग करने वाले) मजनूं की मांग नहीं थी। यदि रक्त देने वाले मजनूं की मांग होती तो वास्तविक दीवाने का पता लगता। 'वैदिक धर्म के दीवानों को दूध मिलेगा' ऐसी घोषणा गुरुकुलों की ओर से की गई। दूध के रसिक, अनृत जीवन के पथिक, दुर्व्यसनग्रस्त गुरुकुलों को ओर महाशय बन कर दौड़ पड़े। वहां था, जंगल की खुली वायु में अंगरेज की तरह मजे से रहने का प्रलोभन, बाजार से चढ़ा हुआ मूल्य, कोई कड़ी कसौटी नहीं, किसी जोखिम का सामना नहीं, सुकुमार सुखमय सम्पन्न जीवन के लोभ में कौन अभागा होगा जो अपने को 'वैदिक दीवाना' न घोषित करदे। वहां शर्त भी तो केवल कह देने मात्र की थी अतः 'कुलगुरुओं' में न त्याग था न तप और न श्रद्धा। उन्हें दूध मिलता है तो वे अपने को त्याग तप सत्यनिष्ठा और श्रद्धा का वैदिक दीवाना बताते हैं। पैसे को होट से पकड़ने वाला, कौड़ी कौड़ी पर जान देने वाला काशी से 'वेदान्त' का प्रमाणपत्र प्राप्त करके अपनी जीवन चर्या के प्रतिकूल विद्यार्थी को ब्रह्म की श्रेष्ठता तथा जगत् के मिथ्यापन का मिथ्यापाठ पढ़ाता है। पढ़ने वाला गुरु की पोथी से गुरु के जीवन और आचरण को अधिक प्रमाणिक समझता है। वह अपने को 'कुलगुरु' का सुपूत प्रमाणित करने के लिये कुलगुरु के जैसा कृत्रिम,

धनलोलुप जीवन बना लेता है किन्तु बाह्यरूप का ही देखने वाली जनता तथा अपनी कालिमा को छिपाने वाले 'कुलगुरु' उस अभागे स्नातक के दुर्भाग्य से सारा दोष उसके जन्मान्तरों के कुसंस्कारों पर पोत देते हैं। तनिक से बैर के प्रतिशोध के लिये जो धनलोलुप द्रोण द्रुपद का आधा राज्य छीन लेता है उसी द्रोण के लोभी गुरुकुल के स्नातक दुर्योधन के मस्तक में कलंक कालिमा पोतने को सब उन्मत्त हो जाते हैं यद्यपि उसी लोभी द्रोण के शिष्य, धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर ने मुफ्त का माल बटोरने के लोभ में छोटे भाई की स्त्री को जुये के दांव पर लगा दिया था।

जिसे सत्य के शोध की लगन होती है वह अपनी त्रुटियों को ढूँढ ढूँढ कर दूर किया करता है किन्तु जिसे सत्य का सहारा लेकर सत्य के आवरण द्वारा किसी भिन्न उद्देश्य को सिद्ध करना होता है वह युद्धस्थल में भटकते हुए सैनिक की तरह अनेक विचित्र दांव खेला करता है।

कभी पत्थर की प्रतिमा में अलौकिक शक्तियें मानी जाती थीं किन्तु जब जनता पर यह कपट खुल गया तो उन प्रतिमाओं की अलौलिक चर्चा बन्द करके प्रतिमा पूजा को दार्शनिक रूप से प्रमाणित किया जाने लगा। कुछ दिनों बाद यह युक्तिस्तम्भ भी धराशायी हो गया तब प्रतिमा पूजा के न्यून होने के कारण घटी हुई आय को बढ़ा कर संतुलन करने के लिये महन्तों ने दुकान व मकान बना कर किराये पर चढ़ाने शुरू कर दिये। भावुक जनता की कृतज्ञता प्राप्त करने के लिये होटलों की रूपान्तर अतिथि-शाला, सेवा भाव आदि निकाल लिये जिससे कृतज्ञ जनता से अर्थिक आय हो।

आर्य जनता के विरक्त होने पर गुरुकुलों ने भी कार्यक्षेत्र में अन्यत्र

हाथ पांव मारने आरम्भ कर दिये। उन्होंने अपनी समस्त तर्कशक्ति को बटोर कर 'उदारता' की नवीन परिभाषा बना डाली। दुकानदार की नीति के अनुसार वे 'सर्वप्रिय' बनने के धुनि मे लग गये। 'सर्वप्रियता' से उनका अभिप्राय जनता का प्रिय बनना न था। अपितु प्रतिष्ठित, धनवान तथा विख्यात पुरुषों में 'प्रिय' बनना था। आर्य जनता को शान्त रखने तथा दूसरों की आलोचना से बचने के लिये उन्होंने 'उदारता' की परिभाषा बनाई। **दूसरों में मिलकर उनमें प्रेम से आर्यत्व की स्थापना करना,** मानो 'आर्यत्व' वैदिकजीवन' एक अत्यन्त सुकुमार स्वादु मिठाई है जिसे दयानन्दी साहित्य के थाल में चखते ही वह नव प्रतिष्ठित, धनवान्, विख्यात अभ्यागत, लीडर, लेखक व वक्ता, जो कल तक तरह तरह के मांस रसों का स्वाद लेता था, गरीबों की कमाई के पैसे को बटोर कर शिमला आदि के नाचघरों में बोतल के सोम-रस को पीकर उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बना हुआ था, फौजदारी के भंयकर मुकद्दमों में हरिश्चन्द्र के सत्य का विश्लेषण कर रहा था, '**एक दम लहराती है खेती दयानन्द की**' में दीक्षित होकर गुरुकुल व आर्य परिवार का अंग बन बैठेगा। गुरुकुल वालों को पसे वालों की आवश्यकता है। कुलपति भी विख्यात वक्ता, लेखकों तथा प्रतिष्ठित लीडरों के सार्टिफिकेट के लिये लालायित रहते हैं ताकि जनता में उनकी ख्याति हो। **सभ्यता के नाते आमन्त्रित अभ्यागत, राजाओं के समान आदर और सत्कार पाकर गुरुकुलों की प्रार्थना स्वीकार करके कुछ लिखने व बोलने को सहमत हो जाते हैं।** अपने मेजबान के आतिथ्य के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये वे नाच घर से लौटकर ब्रह्मचर्य पर, मांस रस का स्वाद लेकर अहिंसा पर, डारविन की थ्योरी में श्रद्धा रखते हुये भी वेदों की अपौरुषेयता पर

ओजस्वी लेख, हृदयस्पर्शी व्याख्यान फटकार देते हैं, हम इसो का विधर्मियों के हृदय में वैदिकधम की विजय मान लेते हैं। इस प्रकार दयानन्द और वंदिक धर्म का परलोक सुधार कर आर्य संस्कृति के गुरुकुलों का मुख उज्ज्वल और प्रख्यात हो जाता है।

आज वैदिकधर्म व गुरुकुल का मानदण्ड (Standard) इतना गिर गया है कि उसे ग्राहक-प्रिय बनाने के लिये हम अवैदिक, असंमयो, दुर्व्यसनग्रस्त किन्तु प्रतिष्ठित, विख्यात व्यक्तियां के प्रमाणपत्र बटोरा करते हैं। आज भुवनभास्कर अपनी किरणों के लिये बिजलो को बत्तियों से प्रमाणपत्र माँग कर अपने बड़प्पन के गीत गाया करता है। अपने को सिंह कहने वाले, शृगाल को पछाड़कर विजय की भेरी वजा रहे हैं जिससे प्रतीत होता है कि शृगाल एक अजेय वीर है और सिंह एक तुच्छ जन्तु। बिजली का लट्टू एक अविराम ज्योति स्रोत है और सूर्य को किरण एक क्षीण मन्द आभा!

आर्य जगत में जब इस रहस्य की आलोचना होती है तो उसे रूढ़िवाद के नाम से हेय प्रमाणित कर दिया जाता है। यम नियम तक रुढ़िवाद को विभूतियां बता दी जाती हैं। राग द्वेष से लिप्त रह कर भो हमारे वाक् शूर अपने को कर्मफल से विरक्त कह कर लीडरी के लिये सब कुछ कर डालने को ही वेदोक्त कर्म सिद्ध करने लग जाते हैं किन्तु जब गहराई में उतर कर देखा जाता है तो पता लगता है कि न हमें उदार नीति से अन्य सभ्यताभिमानियों तथा भिन्न धर्मावलम्बियों में घुस कर प्रेम द्वारा वैदिक संस्कृति का बीज बोने की चाह थो और न उन्होंने वैदिक संस्कृति को श्रेष्ठता को स्वीकार किया था। न मीरजाफर को महोम्मद के एकेश्वरवाद के फैलने की धुन थी, न क्लाइव को ईसा

के विश्वप्रेम को बांटने की और न जगत सेठ श्री अमीचन्द को 'अहिंसा परमोधर्मः' के प्रचार की। भिन्न सभ्यताभिमानी, अलग अलग धर्मों के मानने वाले तीन देशी विदेशी किसी गुप्त स्वार्थ के लिये एकत्रित हुये थे।

हम असन्तुष्ट रहते हुये भी यह कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि कुछ न कुछ तो हो ही रहा है किन्तु यह हमारा दिवाला क्यों निकला ? मांगते मांगते तो कुछ पूंजी जमा होनी चाहिये थी, यह ऋण और कंगाली क्यों आ गई ? वैद्य के विष और मादक द्रव्यों ने हमारे रोगी की बची खुची शक्ति को भड़का कर समाप्त करना आरम्भ कर दिया तो हम समझने लगे रोगी स्वास्थ्य लाभ कर रहा है किन्तु अब रोगी की आंखें क्यों मिचती जा रही हैं ?

आज हमारे रोगी की अब तब लगी है। आज हमें वैद्य के रहस्य का पता लगा है। उसने आर्थिक लोभ के वश होकर विष और मादक द्रव्यों द्वारा रोगी की जीवन शक्ति को उत्तेजित करके चैतन्य कर दिया था, किन्तु वह चेतना जीवन शक्ति का अन्तिम सर्वस्व व्यय थी।

वह मौलिक उद्देश्य, जिसके कारण आर्य जनता आकर्षित हुई थी, नियमावली की सम्पत्ति बना रहा और कर्णधारों ने 'विचार स्वतन्त्रता' तथा 'आध्यात्मिक उदारता' का आश्रय लेकर मीरजाफर, क्लाइव तथा जगत सेठ के स्वार्थों के समान अपने कार्यों की जोड़ तोड़ लगानी आरम्भ करदी। नियमावली का मौलिक उद्देश्य कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण ही नहीं होने पाया फिर उसकी पूर्ति किस प्रकार होती। जनता के असन्तोष का उत्तर दिया गया **'ब्रह्मचारियों की आत्मा के जन्मान्तर के कुसंस्कारों ने मनोवांछित फल नहीं दिया, योग्य कार्यकर्ता नहीं**

मिले, हमें दुनिया की प्रवृत्ति का भी 'तो ध्यान रखना है।' इत्यादि !

किन्तु नामधारी गुरुकुलों से निराश होकर जिन्होंने यह समझ लिया है कि कुसस्कारों से लिप्त मलीन आत्मायें ही दुर्भाग्य से गुरुकुल में प्रविष्ट की जातो हैं जो गुरुकुलों में भी संस्कृत नहीं हो सकती। (२) गुरुकुल इस बीसवीं शताब्दी में एक अव्यावहारिक माध्यम है जो अनुपयुक्त है। (३) विदेशी राज्य का कठोर विधान गुरुकुल उपनिवेशों में नियन्त्रण कर रहा है, जिसके कारण प्राकृत स्नातक बनाये ही नहीं जा सकते, उनसे हमारा यह अनुरोध है कि वे तनिक वैदिक धर्म के लक्षणों, प्राकृत जीवन की विभूति के आधार पर अपने शिक्षा केन्द्रों का आन्तरिक निरीक्षण करें तो उन्हें पता लगेगा कि उनके आर्य जगत् में अभीतक गुरुकुल का आरम्भ भी नहीं हुआ।

(घ) कुल-माताका परिवार

हमारे शरीरमें नेत्रादि इन्द्रियें ब्राह्मण वर्ग, हस्तादि क्षत्रिय, उदरादि वैश्य तथा पैर शूद्र कहलाते हैं। यों तो शिर शीर्षस्थानीय होने तथा जीवन का आधार होने के कारण सर्वमान्य है, किन्तु निर्वाह (पोषण), रक्षा, सुख, दुःख के लिये सबके प्रति समदर्शिता है। नेत्रादि इस लिये कोमल नहीं हैं कि कोमलता उनका बड़प्पन है अपितु नेत्रों का कार्य ही ऐसा है जो कोमलता तथा विशेष संरक्षासे ही सिद्ध हो सकता है। पैर कठोर हैं इसलिये उन्हें तुच्छ वा छोटा नहीं समझा जा सकता। उनका कार्य ही ऐसा है जिसे वे कठोर बन कर ही सिद्ध कर सकते हैं।

आरम्भ में (जन्म के समय) जब उन्होंने कार्य आरम्भ नहीं किया था, वे पर्याप्त कोमल थे।

इस प्रकार, स्थिति भेद के होते हुये भी उदर सब को भरपूर रस रक्त देता है। पैर में लगी ठोकर की वेदना को भी मस्तिष्क उसी गम्भीरता से अनुभव करता है जिस गम्भीरता से कर्णशूल को।

इसी प्रकार "कुल-माता" का भी परिवार होना चाहिये। उसमें कुल-पिता, कुलमाता, आचार्य, अध्यापक, अन्य प्रबन्धक तथा पुत्र (ब्रह्मचारी), कन्या (ब्रह्मचारिणी) आदि हों। सबका समान भोजन, समान वस्त्र तथा समान रहन सहन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि गुरु और शिष्य परिवार के अंग हैं शेष कर्मचारी नौकर, सेवक, दास हैं तो यह व्यवस्था 'कुल' शब्द की परिभाषा व आदर्श की दृष्टि से नहीं अपितु प्राकृत नियम के अनुसार भी भौंडी, दोषयुक्त है। यदि कर्मचारी नौकर, सेवक, दास हैं तो वे रखे भी जा सकते हैं, निकाले भी। अतः वे कुटुम्ब के अंग नहीं, ऊपरी पुरुष हैं। 'कुल' उन्हें अपने परिवार का अंग नहीं समझता, तो वे 'कुल' व 'कुलवासियों' तथा वहां के 'गुरु' और ब्रह्मचारियों को अपना क्यों समझें ? कुलपतियों की कृपादृष्टि पर उनका अस्तित्व निर्भर है। वे नदी तीर के तरु हैं, न जाने कब बहा दिये जावें ! वे भी 'आजीविका' के लिये आये हैं, 'कुल' ने भी उन्हें परिवार का अंग बना कर उनको जीवन भर का कर्तव्य निश्चित करने का आश्वासन नहीं दिया। ऐसी अवस्था में शीघ्र से शीघ्र काफी पैसा बटोर लेने की प्रवृत्ति बना लेना स्वभावतः उन का कर्तव्य होना चाहिये। यदि वे किसी दिव्य लोक के देवता हों तो बात दूसरी है। यदि वे नौकर सेवक, दास, कर्मचारी हृदय की निर्मलता के कारण उक्त

प्रवृत्ति को न भी पनपने दें, तो भी ये, गैर समझे जानेवाले, परिवार से पृथक् नौकर, सेवक, दास 'कुल' परिवार के लिये, कुल–पुत्रों के लिये, पारिवारिक-स्नेह–जनित हितचिन्तन नहीं कर सकते क्योंकि वे परिवार के क्रीत नौकर हैं, पराये हैं।

महात्मा टाल्सटाय अपने सम्पन्न जीवन में जितने सरल ग्रामीण निर्धन लड़कों को नौकर रखा करतेथे वे प्राय: चोर, आवारा, आलसी, मिथ्यावादी बन जाया करते थे, क्योंकि वे उस ऐश्वर्य के रंगमहलमें दो बातें देखा करते थे। एक मालिक के परिवार व बालकोंको और दूसरे अपने को। एक भाग कुछ न करके मज़े उड़ाता था, तो दूसरा भाग दिनरात मज़ोंके साधन जुटाने में ही पिसा करता था। उसे उन मज़ोंके चखनेका अधिकार न था। मालिक तो नित्य अच्छी अच्छी मिठाई खाया करे और नित्य मिठाई बनानेवाला नौकर मुंहपर कपड़ा बांधे बैठा रहे! इतनेपर भी यदि वह चुराकर मिठाई नहीं खाता तो समझो वह महामूर्ख है या किसी देवलोक की आत्मा है।

प्राचीन कालमें सेवक परिवारके अंग हुआ करते थे। उनका सुख दु:ख परिवारके सुख दु:ख के साथ जुड़ा रहताथा। वे परिवारको अपना और अपनेको परिवार का समझते थे। अपराध होने पर उन्हें दण्ड की आशा होती थी किन्तु परिवार से पृथक् किये जानेकी आशंका नहीं।

हमारे 'गुरुकुलों' के वेतनभोगी गुरु, कर्मचारी, सेवक नदी तीर के तरु समान अनिश्चित हैं। किसान खूब खाद देकर खेत को नहीं संवारता, क्योंकि कलका जमीदार खेत छीन सकता है। वेतनभोगी कर्मचारी 'गुरुकुल' की वास्तविक उन्नति में मन, मस्तिष्क और शरीर को नहीं लगा सकता, क्योंकि 'कुल' परिवार उसका नहीं और वह परिवार

का नहीं। वह जब चाहे बाहर निकाला जा सकता है।

घरमें पितामह सब से बड़ा होता है। पुत्र पौत्र उसके संकेतमात्र पर उसके आदेशोंकी पूर्ति कर दिया करते हैं। सबको समान भोजन वस्त्रादि मिलते हैं। पितामह बड़ा है, आदर और सत्कार का पात्र है। पुत्र पौत्र छोटे हैं वे प्रेम, लालन व स्नेह के भाजन हैं। घर का बूढ़ा दरबान सेवक होकर भी बालकों का दादा ही है। रसोई बनानेवाली बूढ़ी रसोइन वधुओं की, बालक बालिकाओंकी बूआ है। बूढ़ा दरबान भूल होनेपर पुत्र पात्रों को समझाता और डाँटता भी है। कभी कभी अनर्थ होता देखकर पितामह से भी उलझ पड़ता है, क्योंकि वह परिवार का अंग है। उसे परिवार से पृथक् होनेका भय नहीं है। अतः वह परिवार का हित चाहता है, दुर्गति देख नहीं सकता। बूढ़ा रसोइन भी बहुओं की भूल पर उन्हें ताड़ना दे लेती है। परिवार के पुत्र-पौत्र, बहु—बेटियें, दास-दासी सब परिवार के शुभचिन्तक हैं, एक दूसरे से प्रेमसूत्र में बँधे हैं। पितामह को प्रभुता प्राप्त है, तो दूसरी ओर सब के सुख-दुःख की चिन्ता। पुत्र—पौत्र शिष्ट और आज्ञाकारी होते हुये भी दादा की कमरपर चढ़ बैठते हैं। रूठते हैं तो दादा को दिक़ कर डालते हैं। दादा के संकेत पर चलनेवाले परिवार—पुत्र, परिवार के हित के लिये, दादाकी भूलों के कारण उससे झगड़ भी पड़ते हैं। किन्तु वेतनभोगी गुरुओं के 'कुल परिवार' में कुलपति श्रेष्ठ, कुलीन प्रभु है तो झाड़ूवाला अन्त्यज ऊपरी नौकर। उसे 'कुल' की मिथ्या स्तुति करने का तो अधिकार है किन्तु त्रुटियों की ओर संकेत करने का नहीं। शीत ऋतु में शरीरका शिर ऊनी टोपा ओढ़ता है तो शरीरके पैर भी पाजामा, मोजे और जूते से सुसज्जित रहते हैं, किन्तु गुरुकुल के शिर के लिये तो ऊनी कपड़ों

का प्रबन्ध है, परों के लियेमौज़े जूते लायक वेतन नहीं दिया जाता।

सुना है गुरुकुलों के 'गुरु' विद्वान्, ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता और विवेकी होते हैं। ज्ञानी, विवेकी की प्रज्ञाबुद्धि चैतन्य होती है। यदि ऐसा है तब तो 'कुलगुरु' पंचेन्द्रियों तथा मन पर काफी से अधिक अधिकार कर सकते हैं। उन्हें नेत्र (रूप) के लिये न सुन्दर वेशभूषा की जरूरत है, न मोहक भांडादि (Furniture) की, न रसना के लिये चटपटे व्यंजनों की, न त्वचा के लिये कोमल स्पर्शों की । उनका तो मन भी शासन, अहंमन्यता की संकीर्णता से मुक्त है यदि वे वास्तव में विद्वान् हैं, न कि पुस्तकों में छपे हुये शब्दों के ग्रामोफोन रिकार्ड। उनके चित्त की शान्ति व शारीरिक स्वास्थ्य के लिये पर्याप्त दूध, मक्खन, खादी की चादर, ऊनी कम्बल, रहने के लिये गोमय से लिपा हुआ भारत की आर्थिक स्थिति के अन्तर्गत सस्ते से सस्ता हवादार मकान पर्याप्त है। किन्तु जो बेपढ़े हैं, अशिक्षित हैं, जिनके ज्ञान-चक्षु बंद हैं, विवेक ने जिन्हें छुआ तक नहीं, गुरुकुल के ऐसे भृत्यों, याचकों को रसना के चटपटे भोजनों की लालसा होनी चाहिये, क्योंकि उनको वेद, वेदान्त न्याय, सांख्य और योग के अमृत का स्वाद नसीब नहीं हुआ। ज्ञानी 'कुलगुरुओं' को तो केवल क्षुधा शान्त करनी है, इन्द्रियों के भोगों से अठखेलियां नहीं करनी हैं। अतएव चटपटे भोजन, सुन्दर कोमल वस्त्रों में किसी की प्रवृत्ति हो सकती है तो गुरुकुल के ज्ञान-चक्षुहीन भृत्यों, याचकों की। इन्हें न मिलकर ये चीज़ें 'कुलगुरुओं' को ही नसीब होती हैं !

चरण कठोर काम करता है किन्तु जीवित व स्वस्थ रहने के लिये वह उतना ही रस रक्त चाहता है जितना कोमल, सूक्ष्म, महत्त्वपूर्ण काम

करनेवाला मस्तिष्क । दार्शनिक 'कुलगुरु' के मस्तिष्क के लिये यदि बादाम की चिकनाई की जरूरत है तो अग्निकी ज्वाला के पार्श्व में तपनेवाले पाचक को भी पावभर मलाई की। पर, उसकी कौन खबर लेता है ? श्रद्धा से गुरुकुल परिवार में आया हुआ भक्त पाचक यहां भी टाल्सटाय के रंगमहल की दो हो वस्तुयें देखता है (१) भोगों को भोगनेवाले 'कुलगुरु' (२) भोगोंसे वंचित, भोगोंका संग्रह करनेवाला पाचक। भोगोंसे वंचित किया हुआ भक्त भृत्य ज्ञानी कुलगुरुओं को सुखमय भोग भोगते देखकर पदार्थों से भरपूर मन्दिरका चोटा मूषक बनजाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महात्मा टाल्सटाय के नौकर बन जाया करते थे।

कुल-माता, कुल पिता का विषमतापूर्ण यह कैसा अनोखा परिवार है जहां पिता, माता, पुत्र, कलत्र सब ही 'नदीतीर तरुवत्' वेतनभोगी नौकर हैं। जिस 'कुल-परिवार' में इस प्रकार ऊंच नाच, छोटे बड़े का हुकूमती, विषमतापूर्ण ऊपरी व्यवहार होता तो वहां पर आये हुये भक्त भृत्य, कर्मचारी तथा गुरूगण अहंमन्यता, दम्भ, क्षुद्रता, भीरुता ही सीख सकते हैं। वे न खुद बन सकते हैं न बना सकते हैं और नही पराये बच्चों का यथोचित लालन-पालन और शिक्षण कर सकते हैं। उदाहरण सर्वसाधारण के हुआ करते हैं जो अनुकूल संयोग प्राप्त होने पर फूलते फलते हैं और प्रतिकूल सयोग में पथभ्रष्ट हो जाया करते हैं। मानजीवन में अनेक बार विकृति घटनायें हो जाया करती हैं जो अनुकूल संयोग, प्राकृत जीवन, सतर्क नीति तथा तापस साधना के होते हुये भी पथभ्रष्ट कर डालती हैं। तब उस वातावरण में, जहां ऐन्द्रिक विषयों का अवरोध नहीं किया जाता, किस प्रकार मन की दुर्बल वृत्तियों पर विजय

की आशा की जा सकती है? जहां पर ऐन्द्रिक विषयों की प्रत्यक्ष, व परोक्ष, न्यून वा अधिक पहुंच है, नेत्रों के लिये खुला, निकट तक पहुंचा हुआ चमकदार रूप है और रसना के लिये स्वादु भोजनों की प्रचुरता। इतने पर भी यदि वहां का मानव-जीवन निर्मल, निर्विषय निर्विकार है तब वह या तो कृष्ण जनकादि के जीवन के समान आप्त गति को प्राप्त हो चुका है या वज्र मूढ़ है। अतएव इस विषमतापूर्ण कृत्रिम संकर चर्या में हमारे 'गुरुकुल परिवार' या तो ब्रह्मनिष्ट योगियों की विभूति को प्राप्त हो गये हैं या जन्मक्लीव हैं अन्यथा प्रकृति के प्रवाह में तीसरी गति निश्चित ही है।

यदि कुलमाता के परिवार की ऐसी शोचनीय विषमता के होने पर भी 'कुल' शब्द का प्रयोग निन्दनीय नहीं है, तब तो इसका दुरुपयोग और भी निर्दयता से किया जा सकता है और तब ग्रामों को 'ज़मींदार कुल' नगरों को 'साहुकार-कुल' तथा छावनियों को 'गवर्नर-कुल' से अलंकृत करना अवैदिक न होगा।

(ङ) हम और हमारे वेतनभोगी धर्मयाजक

जिस बात को हम आज 'वैदिक' बनाये बैठे हैं कभी समय था कि उसके श्रवण मात्र से हमारे वास्तविक पुरखा कानों पर हाथ रख लेते थे। यदि आज से कुछ सहस्र वर्ष पूर्व किसी आश्रम वासी को नौकरी करके, वेद, उपनिषद आदि की कथा द्वारा धर्म प्रचार के लिये आकर्षित किया जाता, तो तत्कालीन मुनियों के आश्रमों में धिक् धिक्

का ध्वनि गूंज उठती।

हम कह सकते हैं कि आज कल के वेतन भोगी उपदेशक गोत्तम कणाद के समान सुयोग्य सचरित्र तेजस्वी वक्ता कहां हैं ? हमारे उपदेशक भी कह सकते हैं कि आज राम, कृष्ण, जनक और विदुर के समान श्रद्धालु श्रोता नहीं हैं ? शायद इसी अभाव की भित्ति पर हम सचेतन ग्रामोफोन की मशीनों के द्वारा वैदिक संदेश के प्रचार को महत्व दे देते हैं। प्रधान व मन्त्रियों के नियन्त्रण में रहकर हमारे उपदेशकों ने वैदिक धर्म का प्रचार इतर व्यक्तियों में करना है। चूंकि हमारे ये उपदेशक गोत्तम कणाद के समान सत्य निष्ठ नहीं हैं अतः जनकादि के समान विवेकशील न होते हुये भी हम वकील आदि प्रधान व मन्त्रियों के नियन्त्रण में रहने से इन उपदेशकों का गौरव ही है। हमारे आधीन होते हुये भी ये उपदेशक पथ भ्रष्ट इतर व्यक्तियों के श्रद्धा के भाजन बन सकते हैं। किन्तु हमारी श्रद्धा के भाजन कौन हैं ? उपदेशक तो हमारी ही कृपाओं पर आश्रित हैं। यदि हम उनसे संतुष्ट रहे तो उनके वेतन और प्रतिष्ठा में वृद्धि होने की संभावना हो सकेगी। अतः आजीविका के कारण हम ही उनकी श्रद्धा के भाजन हैं वे हमारी श्रद्धा के पात्र नहीं।

पुरोहित हमारे संस्कारों का सम्पादन करते हैं। वे हमारे यज्ञों के ब्रह्मा आदि बनते हैं। हमारे बालकों की, स्त्रिया की तथा हमारी श्रद्धा ईश्वर के बाद पुरोहित में ही स्थिर होती है किन्तु आर्य समाजों ने इन्हें भी नौकर रख लिया है। जिन्होंने इन्हें नौकर रक्खा है, अपने वेतन के लिये उन्हें प्रसन्न रखना इनका भी एक मुख्य कर्तव्य हो गया है। प्रमुख यजमान संतुष्ट रहेंगे तो पुरोहित की वेतन वृद्धि हो जायगी।

यजमान के असंतुष्ट रहने से पुरोहित पदच्युत भी किया जा सकेगा। अतः ये पुरोहित भी हमारी श्रद्धा के भाजन नहीं, अपितु हम ही पुरोहित के उपास्य देव हैं।

हमारे साधारण भृत्यों के समान ही हमारा वेतन भोगी पुरोहित हमारे कर्म काण्ड को कर जाता है। इस प्रकार प्रथा की लकीर को पीटने के लिये हमारा पुरोहित हमारा आश्रित बन कर हमारे अग्निहोत्रादि संभाले रहता है। अन्नपूर्णा और दुर्गा को संतुष्ट रखने के लिये पौराणिकों का पुरोहित अपने यजमान बाबू के घर ईमानदारी से नित्य दुर्गापाठ कर जाता है और हमारा पुरोहित संस्कारों में अग्निहोत्र। श्रद्धा और भक्ति से अत्यल्प वा अपरिमित धन कभी "दक्षिणा" शब्द से विभूषित था, किन्तु हमने उसी दक्षिणा को परिमाण में बांध कर "फ़ीस" के समान पुरोहित का श्रमिक (labour) स्थिर कर दिया है ताकि वह उस निश्चत राशि में ही हमारे धार्मिक कृत्यों की सिद्धि करदे। इसी मनोवृत्ति को बूढ़ी गाय की पूंछ पकड़ कर वैतरणी पार उतरना कहा जाता है।

हमारी श्रद्धा के भाजन यदि कुछ हैं तो इने गिने संन्यासी तथा दो चार योगाभ्यासी। किन्तु तूफ़ान की तरह आने वाला केवलादो "भविष्य" हमें मन्त्र दे रहा है कि हम वेतन का लोभ देकर संन्यासी के भी उपास्य देव बन बैठे, योगाभ्यासियों से भी सुकुमार ट्यूशन करालें। इस भौतिक पूंजीवाद का कितना विषाक्त प्रभुत्व है ? यह बड़ी उदारता से हममें व्याप्त होता जा रहा है।

मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में ईश्वर, महात्मा, विद्वान, त्यागी, तपस्वी का भक्त बनने में अपना गौरव समझता है, किन्तु भौतिक

जीवन में वह किसी से घट कर रहना नहीं चाहता ! वह लक्ष्मी का भक्त नहीं अपितु लक्ष्मी पति बनने को उन्मत्त हो जाया करता है । इसीलिये हमारे पुरोहित व उपदेशकों के हृदय को यही दृष्टि कोण व्यथित किया करता है कि आर्षग्रन्थों का अनुशीलन करते हुये भी हम अपने निर्वाह के लिये, अनृत की कमाई करने वाले, शास्त्र के रहस्यों से अनभिज्ञ लाला-बाबू प्रधान-मंत्रियों के हाथ की कठपुतली बने हुये हैं । यदि किसी प्रकार वह लक्ष्मी जिसके लिये हम इनके नियन्त्रण में बंधे हुये हैं, हमारे घर आजावे तो हम भी ऐसी ही प्रभुता का रसास्वादन करलें । इसी लिये हमारे उपदेशकों, पुरोहितों का दृष्टि कोण वह नहीं जो होना चाहिये था । केवलादी पूंजीवाद माननीय बनकर ऋजु पंथ के विरुद्ध उनसे गुप्त षड्यन्त्र करा रहा है ।

मनुष्य का हृदय चिरकाल तक नीरवता म नहीं रह सकता । अनृत जीवन व्यतीत करने पर तो उसमें एक अविराम संताप की वेदना उत्पन्न हो जाया करती है, जिससे छुटकारा पाने के लिये वह किसी उपास्य देव की शरणागत बनने को आतुर हो जाता है । हम प्रधान और मन्त्री किस की शरण में जावें ? उपदेशक और पुरोहित तो हमारे ही भक्त, हमारे ही शरणागत हैं । संन्यासियों और साधक योगियों को भक्त बनाने की संभावना है । हम किस की शरण में बैठ कर उक्त वेदना से बचें ? केवल 'नास्तिकता' व 'अन्धभक्ति' की मूर्छा ही हमें उक्त वेदना से बचा सकती है ।

यदि हमने युरोपीय चर्च मिशन की व्यवस्था से अपने वैदिक धर्म के गिर्जाघरों को शीघ्र ही मुक्त न किया, तो नास्तिकता और अन्धभक्ति ही काल रात्रि बनकर हम और हमारे उपदेशक व पुरोहितों

को प्रलय की मूर्छा का ग्रास बना देगी।

(च) हमारे आर्य स्कूल और कालेज

आज से ६० वर्ष पूर्व की बात है दिग्विजयी दयानन्द भारत में एक ओर से दूसरी ओर तक सत्य का जय निनाद करते हुये स्वार्थ पिशाच द्वारा प्रसारित मत मतान्तर के अन्धकार को वेदोदय द्वारा ज्ञान मरीचिका की वर्षा से नष्ट करते हुये अखिल भारत-वर्ष का पर्य्यटन कर रहे थे।

सन् १८५७ को बीते हुये १५, १६ वर्ष ही हुये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथों में आई ही थी। वह बागियों का दमन कर रही थी, उसी अवसर पर एक "कोपीन धारी" "स्वदेशोन्नति" की ध्वनि सारे देश में गुंजा देता है। वह खुल्लम खुल्ला व्याख्यानों द्वारा अंगरेजी शिक्षा व अंगरेजी सभ्यता का विरोध करते हैं। "**गुजरात मित्र**" १६ दिसम्बर सन् १८७४ के अंक में लिखता है—"**यह स्पष्ट नहीं होता कि वह (दयानन्द) उन देशी लोगों से क्यों उपेक्षा करते हैं जो हमारे कालेजों में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।**" "गुजरातमित्र" सरीखे पत्र इस रहस्य को उस समय नहीं समझ सकते थे। वह ज़माना फूंक फूंक कर कदम रखने का था। १८५७ की घटना पुरानी नहीं हुई थी। दयानन्द उस पद-दलित, परिछिन्न और भयभीत राष्ट्र को कैसे कह सकते थे कि इस गुलामी को निकलना चाहिये। तमाम देश सन् ५७ की वीभत्स नर

हत्याओं और नारकीय काण्ड से त्रस्त व भयभीत था।"लार्ड मिकाले की अंगरेजी शिक्षा पद्धति, भारतीय भाषा, भाव और संस्कृति को नष्ट करने के लिये है। भाषा, भाव और संस्कृति को खोकर कोई जाति जीवित नहीं रह सकती, तब स्वतंत्र होना तो असम्भव ही है। सरकार को अंगरेजी दुभाषिये क्लर्कों की जरूरत है। उसे पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करना है जिसस यहां के शिक्षितों के दिल व दिमाग सब अंगरेजी हो जावें। वे Indian in form and English in manner बन जावें।" इस क्रान्तिकारी सत्य को ऋषि दयानन्द कैसे जनता के सम्मुख खोलकर कह सकते थे ? सन ५७ का विप्लव ताज़ा ही था ऋषि, मेकाले की शिक्षा पद्धति को देखकर समझते थे कि इस अंगरेजी शिक्षा को ग्रहण करके युवक एक ओर अपनी प्राचीन संस्कृति को व्यर्थ समझने लगेंगे तो दूसरी ओर दैनिक जीवन इतना कृत्रिम बन जायगा कि विदेशी वस्तुओं के अभाव में उनका जीवन दूभर हो जावेगा। वे विलायती वेश भूषा और रहन सहन के दास हो जायंगे।

ऋषि की कल्पना के इस भयानक सत्य को हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं। जो सर्वनाश "गुजरात मित्र" की समझ में तब नहीं आया था, वह अब हमारी आखों के सामने है। उस समय हम संकेत को न समझे। स्पष्ट खोलकर कहने का वह ज़माना न था। एक ओर "उत्थान" सरकार के लिये अराजकता को सूचित करता था तो दूसरी ओर भयभीत परिछिन्न प्रजा को यह "मृत्यु" प्रतीत होता था।

राजनैतिक व राष्ट्रीय कारण ही नहीं, अपितु नैतिक व सामाजिक कारण भी थे जो ऋषि-दयानन्द से अंगरेजी स्कूल व कालेजों के प्रति उपेक्षा करा रहे थे। वे समझते, थे कि यदि, अंगरेजी का विद्याम् अपने

अतीत का शत्रु न भी बना तो वह उसका भक्त भी न रहेगा। उसमें नास्तिकता न सही तो पश्चिमीपन तो ज़रूर हो आजायगा । आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि अनीश्वरवाद का भयंकर तूफान हमारे स्कूल कालेजों से ही उत्पन्न हो रहा है। सनातन धर्म और डी० ए० वी० कालेजों से भी इसे काफ़ी खुराक, शक्ति और विकास मिल रहा है।

अपने धन-जन से हम एक विदेशी सरकार के सुभीते के लिये स्कूल कालेज खोलते हैं। **"यह धार्मिक शिक्षा भी देंगे"** ऐसी प्रवंचना भी की गई किन्तु उन शिक्षा केन्द्रों का परिणाम निकला **"विलायतीपन"** **"अनीश्वर वाद"**। उस पद्धति के अन्तर्गत हमने अपने धन-जन और शक्ति का आय व्यय करके अपना कुछ भी प्रसारित न किया प्रत्युत अपने अतीत गौरव, श्रद्धास्पद संस्कृति, भाषा, भाव को खोकर प्राप्त किया नाशकारी **"विलायतीपन"** **"अनीश्वरवाद"**। हमारे घर में, हमारे द्वारा, हमारी संस्कृति के उपाख्यानों से परिवेष्टित रहकर हमें उपरोक्त दो हलाहल ही मिले। दानवों के समान हमारी भी दुर्गति ही हुई। उन्हें भी घोर पुरुषार्थ के बाद **"विष-कुम्भ"** और **"सुरापात्र"** ही मिले थे।

कहने को हम अपने को दयानन्द का भक्त कहते हैं किन्तु हम दयानन्द भक्तों ने अपने गुरुदेव द्वारा सन् १८८१ में, आज से ठीक ४३ वर्ष पूर्व रोके जाने पर भी, ऋषि की हुकुमउदूली करके उसके विरुद्ध आचरण किया। शायद इस विषय में हम अपने को ऋषि से अधिक अनुभवी समझते थे और इसी कारण हमने सन् १८८१ के बाद अनेक **"आर्य"** विशेषण व नामधारी स्कूल कालेज खोले। यद्यपि ऋषि ने २३ मई सन् १८८१ को एक पत्र सेठ निर्भयरामजी को लिखकर हमें इस

कुप्रवृत्ति से रोका था:—

"......मु० कालीचरण जी के पत्र से विदित हुआ कि आप लोगों की पाठशाला में आर्य भाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा अंगरेजी, उर्दू, फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट जिसके लिये यह शाला खोली गई है सिद्ध होता नहीं दीखता वरन् आपका यह हजार-हा मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है।...अंगरेजी का प्रचार तो जगह-जगह सम्राट की ओर से, जिनकी यह मातृभाषा है, भली प्रकार हो रहा है। अब इसकी वृद्धि में हम तुमको इतनी आवश्यकता नहीं दीखती **और न सम्राट के समान कुछ कर सकते हैं।**"

हमने ऋषि-वचनों की अवहेलना करके सन् १८८१ के बाद अनेक आर्य स्कूल व कालेज खोलकर **विदेशी शासन**, विदेशी संस्कृति की जड़ों को मजबूत बनाया। दासता की बेड़ियों के लोहे को इस्पात बना दिया जो अब पैरों को बांधता ही नहीं अपितु काटता भी है ताकि हम बेड़ियों से स्वतन्त्र होकर भी पंगु ही रहें।

जनता को बहकाने के लिये हम सान्त्वना दिया करते हैं कि हमारे **आर्य स्कूल, कालेजों** ने हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाया है! आज हमारी ऋग्न-योजनाओं का भण्डा फूट रहा है। हमने जनता से रुपया लेकर दो आने की वस्तु भी उनके मत्थे नहीं मारी। कौन जाने कि हमारा उक्त **वैदिक** विशेषता युक्त शिक्षा-प्रसार-प्रयत्न हमारा गुप्त, संकीर्ण स्वार्थ ही था! क्या हमने यह आर्य स्कूल और कालेज अपने इष्ट मित्रों को रोजगार दिलाने, अपनी संतान को पश्चिमी संस्कृति की भित्ति पर धन संचय के योग्य बनाने व कुटुम्ब की—तृष्णा की पूर्ति के लिये तो

नहीं खोले थे ? "आर्य" विशेषण धन संचय के लिये तो नहीं जोड़े थे ? या साम्प्रदायिक, मजहबी व क़ौमी स्कूल कालेजों को खुलता देख कर हमने भी "तू करे सो मैं करूं" की भित्ति पर यह बवण्डर रचा था ?

ऋषि-दयानन्द ने १७ जुलाई सन १८८१ में अजमेर से भेजे हुये अपने एक पत्र में राजा दुर्गाप्रसाद जी को लिखा थाः—

"जैसे मिशन स्कूलों में लड़के अपने अन्य स्वार्थ सिद्धि के बाइबिल सुन लेते हैं और ध्यान नहीं देते वैसे ही संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ ?"

ऋषि दयानन्द ने **हमारे भावी परिश्रम** का रहस्य हमें आज से ५४ वर्ष पूर्व ही बता दिया था किन्तु हमने प्रवंचना से जनता को यह बहकावा देकर कि हम **वैदिक संस्कृति की शिक्षा देंगे** खूब धन बटोरा और सन् १९२० तक स्कूल कालेज खोलने में लगे रहे।

ईसाई मत के बुद्धिमान महन्तों ने सोचा था कि हम **रोज़ी** देने वाली अंगरेजी शिक्षा के लोभ में विद्यार्थियों के अन्तः करण पर बाइबिल चिपका देंगे, परन्तु पढ़ने वाले भी चंट थे। उन्हें यूनीवर्सिटी के सार्टीफ़िकेट का लोभ था। वे अपनी स्वार्थ सिद्ध के लिये ईसा की तसबीह लेकर **"मैं ईसा का जप करूं"** घोक लिया करते थे।

हमने भी ईसाइयों का अनुचर बनकर उनका अनुकरण किया। बाइबिल की जगह सत्यार्थप्रकाश रक्खा। विद्यार्थियों ने भी यूनीवर्सिटी की सनद के लोभ में सत्यार्थप्रकाश को तोते की तरह सुना और सनद मिलते ही रद्दी के बण्डल के साथ पंसारी की दूकान पर भेज दिया। आओ, तनिक अपने इन शिष्यों के आचार विचार, रहन सहन, वेष भूषा को देखें कि सत्यार्थप्रकाश से इन्होंने कितना आर्यत्व प्राप्त किया,

इनकी दिनचर्या व कर्मकाण्ड अतीत की कितनी रक्षा कर रहे हैं ?

ईसाइयों ने जब अपने उद्देश्य की पूर्ति ईसाई स्कूलों से न देखी तो उन्होंने उन्हें बन्द कर दिया। क्या हम में भी इतना त्याग व साहस है ? या ये हमारी और हमारे साथी चतुरानन लोगों की रोजी का माध्यम ही बनी रहेगी ? भिक्षुक याचना वृत्ति को नहीं छोड़ता तो दाता की संकोच-नीति ही उसे इस पाप से बचा लेती है। हमारे स्कूल कालेज अपनी वृत्ति को न त्यागेंगे तो गवर्नमेंट ही अपनी सहायता (Aid) को शून्य तक पहुंचाकर उन्हें सदा के लिये बन्द हो जाने पर विवश कर देगी क्योंकि जनता इनके भ्रम जाल से सतर्क हो चुकी है।

आज दयानन्द की भौतिक वाणी हमारे समक्ष नहीं है। आज तक शायद हमें उनकी लिखित वाणी (लेखों) का पूर्ण परिचय नहीं था। "गुजरात मित्र" का लेख, सेठ निर्भयराम व राजा दुर्गाप्रसाद जी को भेजे हुये स्वामी जी के उपरोक्त पत्रों से हम अनभिज्ञ थे तो उस भारतबन्धु दयानन्द की वाणी को, उसके लिखित मन्तव्य को आज ही सुनें। जिस नृसिंह ने हमारी शिथिलता को जानकर फरवरी सन् १८८१ में आगरे से सेठ कालीचरण रामचरण जी व सेठ निर्भयराम जी को लिखा था "......क्योंकि हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपनी समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर यह कार्य किया है—......वेद भाष्य आदि सब काम छोड़ देंगे। केवल एक लंगोटी लगा आनन्द से विचरेंगे।" उस एक मात्र शुभचिन्तक दयानन्द की वाणी को अब ही सुनें और सोचें कि हमारे ये कृत्य वैदिक तो हैं नहीं परन्तु दयानन्दी भी नहीं, यदि हम अपने को दयानंदी भी बतावें।

(छ) हमारे अनाथालय

किसी नगर के बाज़ार की पूर्णता को प्रकट करने के लिये हममें यह कहावत प्रसिद्ध है—"बाज़ार में मां बाप को छोड़ कर शेष सब मोल मिलता था।" हमारे अनाथालयों ने उक्त कहावत को मिथ्या प्रमाणित कर दिया। अब मां और बाप भी मोल मिल सकते हैं, केवल गांठ में पैसा चाहिये।

यह क्रीत किये हुये मां बाप अनाथ बच्चों को भेड़ बकरियों की तरह पाल डालते हैं। उन्हें समय पर घन्टी बजा कर खाना दाना भी दे देते हैं और पानी भी पिला देते हैं। बच्चे भी मिमियाते पशु की तरह अपने दिन, मास और फिर वर्ष व्यतीत करते रहते हैं। प्रायः अनाथालयों में उत्तीर्ण युवक अनाथों का जीवन उत्साह हीन, त्रस्त व पीड़ित सा होता है। क्योंकि वे बचपन में पशुओं को तरह हकाये जाते हैं। खरीदे हुये नौकर मां बापों की स्नेह शून्य शुष्क ताड़ना क्रूर आदेश, तिरस्कार पूर्ण भर्त्सना आदि की बौछारें ही उन पर हुआ करती हैं। पिता का वात्सल्य तथा माता का जननी स्नेह उनके लिये कल्पनातीत वस्तुयें होती हैं।

खिन्न, त्रस्त और ताड़ित भी मनोरंजन चाहता है। बल्कि सुखी, सम्पन्न से कहीं अधिक। सुखी सम्पन्न बालक माता पिता के स्नेह आदि से काफी मस्त रहता है। किन्तु अनाथ को तो स्नेह, सुखादि के स्थान में ताड़ना, भर्त्सना आदि की पीड़ा मिलती है। पीड़ित मनोरंजन न

मिलने पर किसो बदहोशी की मूर्छा को ही ग्रहण करने को तत्पर हो जाता है। क्योंकि धैर्य और शिव-संकल्प लुप्त हो जाया करते हैं। वह किसी प्रकार उस वेदना को भुलाने के लिये आतुर हो जाया करता है, तब वह ऊंच, नीच पथ कुपथ का विवेक न करके:—

"ग़म में और मायूसी
जब न कोई राह सूझी।
घुस पड़ा मैख़ाने में
इस बला से तो जान छूटे ॥"

दो घड़ी बेहोशी को ही सौभाग्य समझता है। यही कारण है कि अनाथ बालक इन नौकर मां बापों की स्नेह शून्य ताड़ना भर्त्सना से व्यथित होकर आवारा हो जाया करते हैं और इसका दोष मढ़ दिया जाता है उन बालकों के जन्मान्तर के संस्कारों पर।

गुरुकुल के संचालकों के सामने एक विवशता है जिसके कारण वे बालकों को यथावत् तपस्वी नहीं बना सकते। क्योंकि उन बालकों के माता पिता जीवित हैं, जो अपने अपने वित्तानुसार अपने बालकों को वस्त्र और स्वादु भोजन आदि का आराम दिलाना चाहते हैं। गुरुकुलों के संचालक अपनी दुर्बलताओं के कारण इस भाव से कि यदि उन्होंने बालकों के संरक्षकों की इच्छानुसार उनको सिंगार संवार कर न रक्खा तो बालक गुरुकुलों से हटा लिये जायंगे, संरक्षकों की प्रत्येक ममतामय, अभिलाषा के सन्मुख "एवमस्तु" कह देते हैं। प्राकृत पौष्टिक भोजन आदि की अपेक्षा बालकों के माता पिता के अभिलाषित कृत्रिम स्वादु महंगे भोजन की योजना करने लगते हैं जिसके कारण व्यय के भय से पौष्टिक भोजन का व्यसनी ही बन जाता है। किन्तु अनाथालयों में

यह भय आरम्भ से ही नहीं होता। वहां तो वे मां बाप के बच्चे होते हैं, जिनके भोजन आदि के विषय में किसो ममतामय विधान को योजना वा आग्रह की अशंका नहीं। तब वहां पर प्राकृत जीवन का अभ्यास क्यों नहीं कराया गया जिससे अनाथ बच्चे स्वावलम्बी, स्वस्थ्य, पुष्ट, तपस्वी व जितेन्द्रिय बनते तथा अनाथालयों का व्यय भी कम होता? इसका कारण यदि हम ढूंढना चाहें तो हमें अनाथालयों की नींव में मिल जायगा। अनाथालयों की आधारशिला मे सामयिक विवशता व सचालकों की लोकेषणा ही मूल कारण है। अनाथालयों के आरम्भ में (१) बालकों के भोजन वस्त्र (२) मकान (३) कर्मचारियों के लिये धन की आवश्यकता हुई। स्वामी दयानन्द संस्कार-विधि में ब्रह्मचारो (विद्यार्थी) के रहन सहन वेशभूषा की परिभाषा लिख गये थे किन्तु जनता में विशेषकर पूंजीपतियों में वह एक जंगलीपन की मूर्ति थी। अनाथालयों के संचालकों ने आनाथों को 'प्रदर्शन' को वस्तु बनाया। पूंजीपतियों के सामने नागरिक भोजन का अभिनय किया ताकि "पैसे वाले" अनाथालयों को ठोस (स्थिर) समझ कर रुपया दान दें। पक्के मकान बनाये गये, ताकि दान दाताओं में अनाथालयों की सम्पन्नता की साख (विश्वास) हो जावे। वे समझने लगें कि अनाथालयों के पास जायदाद है, इतने पक्के मकान बाग इत्यादि हैं, और इस प्रकार जनता इस संस्था को सम्पन्न समझ कर दान दे। नौकर मां बाप आजीविका और पूंजीवाद के भूखे थे। वे भर पेट घो दूध तथा पर्याप्त कपड़ा लेकर जीवन भर अनाथालय में पड़े रहने के लिये नहीं आये थे। वे अनाथों के सूखे चने और उनका घी दूध खाकर अपनी तनख्वाह के पैसे बचाकर अपने तथा अपने बच्चों का भविष्य

सम्पन्न बनाने के लिये जोड़ तोड़ में थे। अतः उनके वेतन के लिये धन की आवश्यकता थी। संचालकों को जनता में प्रधानो प्राप्त करनी थी। देशी व अंग्रेजी हुक्कामों में सभ्य बनना था। झोपड़ियों में पोले (अस्थिर) अनाथालयों को कोई हाकिम, प्रतिष्ठित धनाढ्य फूटो आंखों देखना पसन्द न करता था और न उनके विषय में प्रशंसा सूचक शब्द बोलना। एक कलक्टर व किसी अन्य आधुनिक सभ्य लीडर किसी प्रतिष्ठित धनाढ्य के दो प्रशंसनोय विशेषणों में जो गौरव संचालक महानुभाव को मिल सकता था, वह ज़िले भर के किसान मजदूर चमार और मेहतरों के वाह वाह करने में भी न था। दूसरे हमें अपने "पुरखाओं" के "जंगलीपन" के कलंक को मिटाना था। अब हम किसी प्रकार इस प्राचोन जंगलोपन का प्रदर्शन करके प्रतिष्ठितों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे। अतः हमने अपनी नवीनफैशनेबिल दान भिक्षा नोति से दुकानदारी के लाभार्थ अपने अनाथालयोंको विश्वस्त दूकान बनाने के लिये प्रदर्शनों का ढांग रचा। पैसे के लिये बिके हुये कृत्रिम मां बापों ने अनाथालयों से पैसे कमाये और समाज के सिर पर अहसान की चार लात भी मार दीं। प्रश्न हो सकता है कि आरम्भ में विवशता से वैसा किया गया। किन्तु अनाथालयों के चल जाने पर फिर उन्हें प्राकृत रूप क्यों न दिया गया ? इसका उत्तर सहज है। प्रथम तो यह बात संचालकों के हृदय में स्वप्न में भी न आई थी कि अनाथालयों को जंगली बनाने से सदाचार की आशा हो सकतो है। उनका मूल उद्देश्य अनाथों को सरलतम नीति से तथा स्वयं कम से कम झंझट में पड़कर पालना तथा अपनी लीडरी से जनता व हुक्कामों में प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। कितनों के लिये तो यह "परोपकारी" कर्म भी मनोरंजन की एक विभूति हो थी, जिससे प्रतिष्ठा

व जनश्लाघा एक अमूल्य आय थी। दूसरे सदाचार व धर्म से उन्हें विशेष रुचि न थी। धर्म, शिक्षा, सन्ध्या, हरिभजन, हवन और संगीत आदि योजना तो केवल दुकानदारी के अभिनय थे, ग्राहकों के हृदयों को अटकाने के मधुर कटुये थे। सत्य निष्ठा व सदाचार के माधुर्य से स्वयं अनभिज्ञ थे. अनाथों में इनकी स्थापना वे विचारे क्या करते। दूसरे मानव जाति के इतिहास में कहीं ऐसा हुआ नहीं कि कोई अनृत से कमाई करके ऋत का प्रचार करे, दुराचार से धन कमाकर उसे सदाचार में लगावे और उससे सदाचार का प्रचार हो निकले। हां, यदि अनाथालयों के संचालक चाहें तो प्राकृत आर्षकुल चला सकते हैं, जिनमें अब से तीन गुने बालक, बालिकायें, सौम्य, प्राकृत सदाचारी और सत्यनिष्ठ बनकर इन संचालकों के नमक को हलाल करदें। नहीं तो यह अनाथ दर्जी, लुहार, शराबी, दुराचारी, शहरी छोकरे बन कर आर्यों की जन संख्या ही बढ़ायेंगे। वेद, कर्मकाण्ड, सदाचार से दूर रह कर "लहराती है खेती दयानन्द की" गाना, बजाना, नाचना खूब पीना और पिलाना इनका "वैदिक जीवन" आर्य जीवन होगा।

(ज) वानप्रस्थ और पेन्शन

देशी अथवा विदेशी भाषा तथा लिपि के बोध को शिक्षा नहीं कहा जा सकता और न गणित आदि का ज्ञान शिक्षा कहला सकता है। इस प्रकार का लिपि तथा भाषा बोध तो विद्यार्थी-ट्यूटरों (Student tutors) द्वारा भी प्राप्त कर लिया जाता है। हम में अनेक स्वयं वा

अपने बालकों के लिये सस्ते बाजारू गरीब विद्यार्थियों को अध्यापक रूप से क्रय करके अंगरेजी भाषा, गणित आदि की कला का प्रबन्ध उसी प्रकार कर लिया करते हैं जिस प्रकार किसी शिल्पी को नौकर रख कर उसकी कला का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

"किसी भाषा के पढने से सुकुमार जोवन की पूर्ति के लिये अच्छा वेतन मिल सकेगा? बाजार में किन किन विषयों के पंडितों की मांग है?" आदि बातें बाजारू सौदे हैं। वणिक बाजार में मनुष्योपयोगी जड़ वस्तुओं को बेचता है और हम अपने आपको! तभी तो हम अपनी संतान को सस्ते महंगे विद्यार्थी-ट्यूटरों, बाज़ारू व स्कूली अध्यापकों द्वारा, बाजार में बिकने लायक कांट छांट कराकर मंडी में विक्रयार्थ भेज देते हैं।

पेट तो पशु भी पाल लेते हैं, किन्तु हम पेट पालने के लिये नहीं प्रत्युत कृत्रिम तथा विषाक्त वासना की पूर्ति के साधन संग्रह करने के लिये अपने को बिकने योग्य तैयार करते हैं ताकि पैसे की मंडी में हम अपने का महंगा बेच सकें। विद्यार्थी, तथा अध्यापक-ट्यूटरों अथवा अध्यापकों को पैसे की ज़रूरत थी। उन्होंने 'शब्द' को हमारे हाथ बेच दिया और हमने उस 'शब्द भण्डार' को बाज़ार में लाभ सहित बेचने के लिये क्रय कर लिया।

बाजार पराये हाथ में है और बिकना हमारे हाथ में। हमें अपने को बेचना जरूर है क्योंकि इसी विक्रय के लिये हमने अपने को कांट छांट कर बाजार में विक्रय योग्य तैयार किया है। आज मंडी अंगरेज सौदागर के हाथ में है, इसीलिये हम अपने को अंगरेजी भाषा से अलंकृत कर 'अंगरेजी खिलौना' बनाकर मंडी में भेज देते हैं। इससे पूर्व मंडी फारसी (मुसलमान) सौदागर के हाथ में थी तब हम अपने को उर्दू फारसी खिलोना बनाते थे। आज सौदागर बदल जाने पर वह उर्दू-फारसी का

खिलौना मिट्टी के टूटे घड़े के भाव भी नहीं बिकता। यदि कल को अंगरेजी सौदागर बदल कर चीनी सौदागर बाजार पर अधिकार करलें तो हम अंगरेजी भाषा से अंलकृत "अंगरेजी खिलौने" उस चीनी बाजार के घूरे पर पड़े रहेंगे।

इस प्रकार अपनी अप्राकृत वासनाओं की पूर्ति के लिये अपने को बाजारू मांग के योग्य बनाकर विनिमय करना एक प्रकार से वेश्यावृत्ति ही है। यह शिक्षा नहीं, यद्यपि इसे शिक्षा हो माना जाता है। किन्तु इस अनुदार दृष्टिकोण में भी आज हम विक्रयार्थ खिलौनों का इतना बाहुल्य बाजार में होगया है कि हम अपने को बेचकर भी उस अधम विपाक विषयी जीवन का आंशिक भाग भी प्राप्त नहीं कर सकते।

शिक्षा क्या है ?

शिक्षा एक ऐसा अनुभवगम्य रहस्य है जो मानव जीवन को अन्तराय-मुक्त कर देता है। हम जीने के लिये खाते हैं किन्तु खाने के लिये ही नहीं जीते हैं। हम जीते हैं कर्म करने के लिये। वह कर्म है काया की, जीवन की प्राकृतचर्या और इसी का नाम जीवनचर्या है। जीवनचर्या का जानना ही 'शिक्षा' है। जीवनचर्या को न बाजार की आवश्यकता है और न ग्राहक की। वह आरम्भ से स्वावलम्बन चाहती है। उस जीवनचर्या को केवल वानप्रस्थ ही सिखा सकता है, क्योंकि उसने बनकर बनाना सीखा है और बना भी चुका है।

'वन' शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी लोक में इस शब्द का जंगल अर्थ ही प्रसिद्ध है। अतः वानप्रस्थ का तात्पर्य वननिवास, आरण्यक जीवन ही है। मनु ने भी "वृक्षमूलनिकेतनः" कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि वानप्रस्थ 'बनवासी' को ही कहा जा सकता है। पुत्र

कलत्रवाले महन्तों के चरित्रों को देख कर, जो परिव्राजक का परिधान व नाम उपयोग में लाते हैं, हम मनु के राज्य और तत्कालीन आप विधान की दुहाई दिया करते हैं, किन्तु हम वनवासी न बनते हुये भी 'वानप्रस्थ' उपाधि का दुरुपयोग अपने पेन्शनर जीवन के साथ निर्दयता से कर लिया करते हैं। क्या मनु का नीतिविधान पुत्रकलत्र वाले महन्तों को दण्ड देकर, विशेषता शून्य हमारे आश्रमों के लिये हमारे द्वारा 'वानप्रस्थ' विशेषणों का अनुचित उपयोग होने पर हम को 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नाविक समझकर क्षमा प्रदान कर सकता था ?

मनुष्य जीवन के तृतीय भाग अर्थात् विश्रामकाल को इङ्गित करने के लिये हमारे साहित्य में अनेक उपयुक्त शब्द मिल सकते हैं वा बनाये जा सकते हैं। बुढ़ापे में 'जरा आराम' से रहने के लिये वृक्ष-विहीन कोठी बंगलों के समान गृहसमुदाय को 'वानप्रस्थ आश्रम' घोषित करके 'वानप्रस्थ' शब्द के साथ प्रतारणा करना है। क्योंकि जब बननिवास ही नहीं तब 'वानप्रस्थ' कैसा ? ऐसे आश्रमों के लिये तो 'विश्राम आश्रम' वा 'पेन्शनर हाउस' प्रभृति शब्द ही उपयुक्त हो सकते हैं।

अतः हमारे 'वानप्रस्थ आश्रम' उतने ही शब्दार्थानुकूल तथा वैदिक हैं जितना महन्तों व नांगों का संपत्तिशाली जीवन व प्रतिमापूजा। केवल सांप्रदायिक मोह के कारण हम उन्हें हेय और इन्हें श्रेय मानते हैं।

किंतु वेदों में पौराणिककालीन मांसपरक अर्थ की प्रथा के समान आज वयोवृद्ध सुकुमार बाबुओं के सुभीते व मनोरञ्जन के लिये 'वृक्षमूल निकेतनः' के अलंकारिक अर्थ किये जाने लगे हैं। अब रूपक की शरण

लेकर 'वृक्ष-मूल' का अर्थ 'वेदरूपो वृक्ष' होने लगा है, ताकि पं जोपति, पेन्शनर, बाबू सुरम्य अट्टालिकाओं में रहकर कृत्रिम, विलासमय, सुकुमार जीवन बिताते हुये मेज के सहारे केवल वेदपाठ करके अपने को 'वानप्रस्थ' परिभाषित कर सकें।

वानप्रस्थ क्या है ?

बालक को शारीरिक, मानसिक एवं मस्तिष्क सम्बन्धी परिवर्धन, परिपोषण तथा परिपक्वता प्राप्त करनी थी। इन सब के लिये आय की आवश्यकता थी। उसके पास व्यय के लिये—देने के लिये कुछ नहीं था। वह सब ओर से अपने शरीर, मन, मस्तिष्क के लिये 'आयात' ही चाहता था। यह उसके विकास काल की प्राकृत मांग थी।

परिपक्व होकर उस वयोवृद्ध बालक (पुरुष) को आविष्कार, उत्पत्ति करनी थी। अब उसे अपने समान वस्तु को अपने ही अंगों से प्रथक्करण करके बनाना था, इसलिये उसे इस काज में दो कार्यों के लिये पुष्ट आहारादि की आवश्यकता थी। बालकपन में परिवर्धन व परिपोषण था, तो यौवन में संरक्षण व उत्पत्ति। दोनों अवस्थाओं में अग्नि तीव्र थी, रस धातु प्रचुरता से बन सकते थे, अतः खूब पुष्ट, स्निग्ध भोजन प्रचुरता से वांछनीय था।

अब वृद्धावस्था के आने पर जठराग्नि अन्यान्य इन्द्रियों व अंगों के समान शिथिल होने लगी, परिवर्धन का कार्य चिरकाल पूर्व समाप्त हो चुका। उत्पत्ति के कार्य में अशक्यता हो गई। 'आयात' किस लिये किया जावे ? न अग्नि ही पुष्ट अन्न को अधिक मात्रा में पचा सकती है, न परिवर्धन के लिये ही रस, रक्त, धातु की आवश्यकता है और न अब उत्पत्ति के कार्य में व्यय होने वाले रस रक्तादि की स्थानपूर्ति के लिये

आवश्यक नवीन रस रक्त के लिये पुष्ट भोजन की आवश्यकता है। अतः प्राकृत नियम ही नहीं चाहता कि वृद्धावस्था में शरीर को पुष्ट, वृष्य, स्निग्ध भोजन दिया जाय क्योंकि शरीर को न उसकी आवश्यकता है और न वह (शरीर) उसको पचाने में समर्थ है। यौवनकाल में पुरुष उत्पत्ति व पालन का एक परमावश्यक कार्य, एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व पूरा करता था किन्तु अब वृद्धावस्था में वह, सब प्रकार से न्यून-शक्ति हो जाने के कारण उतना बड़ा दीर्घकालिक, पूर्णश्रम अपेक्षित कार्य नहीं कर सकता। अतः आर्थिक न्याय की दृष्टि से भी वह वृद्ध अब राष्ट्र की, प्रकृति की सम्पत्ति का उतना भाग अपने लिये व्यय नहीं कर सकता जितना वह अपने यौवन काल में करने का अधिकारी था, जब वह राष्ट्र के लिये उत्पत्ति, संरक्षण, पालन पोषण का कार्य कर रहा था।

प्राकृतिक नियम व आर्थिक न्याय इस बात को अनुमति ही नहीं देते कि वानप्रस्थ अपनी वृद्धावस्था में पुष्ट, वृष्य व स्निग्ध भोजन का अल्प मात्रा में तथा अन्य भोजनों का प्रचुर मात्रा में उपयोग कर सके। ४ अंगुल की रसना के व्यभिचार के लिये अनियमित रूप से भोजन करते रहना राष्ट्र के धन की चोरी तथा प्राकृतिक नियम के साथ अत्याचार है। क्योंकि वानप्रस्थ स्वाद के लिये खाकर जितने पुष्ट, स्निग्ध व वृष्य भोजन की विष्ठा बना डालता है उतने भोजन के अभाव से राष्ट्र के अनेक दुध-मुंहे बच्चे परिवर्धन, परिपोषण व परिपक्वता से वंचित रह जाते हैं। इसी प्रकार मकान, वस्त्रादि अन्य वस्तुयें हैं जिनकी आवश्यकता वानप्रस्थ को अत्यल्प होती है।

आवश्यकता और योग्यता (सेवाकार्य क्षमता) ही किसी व्यक्ति के अधिकार की मात्रा निर्धारित कर सकती हैं। प्राकृतिक नियम आवश्य-

कता के अनुसार तथा आथिक न्याय योग्यता (सेवा-कार्य) के अनुसार संपत्ति को अधिकार देता है। आथिक न्याय पर राष्ट्र तथा प्राकृतिक नियम पर जीवन अवलम्बित है। इसीलिये वानप्रस्थ का भोजन, वस्त्र व निवास सब ऐसा रक्खा गया है जो शरीर के लिये अपव्ययो तथा राष्ट्र-सम्पत्ति पर भारस्वरूप न हो और वह है मनु के शब्दों में:—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वंचैव परिच्छदम् । मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा। अप्रयत्नः सुखार्थेषु धराशयः वृक्षमूलनिकेतनः।

अतः 'वृक्षमूलनिकेतनः' का अलंकारिक अर्थ 'वेद रूपी वृक्ष के नीचे' करना एक निस्सार कल्पना है। यदि वानप्रस्थ खूब पुष्ट, स्निग्ध भोजन खाकर पचा सकता है, शरीर पुष्ट व श्रम योग्य है तो वह पिछले कार्य क्षेत्र "गृहस्थ" को क्यों छोड़ आया जहां वह राष्ट्र के लिय उत्पत्ति व संरक्षण का कार्य करता ?

अतः आधुनिक वानप्रस्थ "वानप्रस्थ आश्रम" नामक रम्य नगरों में स्वर्गारोहण के लिये सुशोभित होते हैं किन्तु वे यहां वेद को वाणी मे 'केवलादी' बनकर राष्ट्र तथा प्रकृति की चोरी करके 'केवलाघो भवति केवलादी' के समान परलोक बना पाते हैं।

पेन्शन

पेन्शन अंगरेजी भाषा का शब्द है जो लेटिन भाषा के Pensionem शब्द से बना है, जिसका अर्थ है Payment to pay अर्थात् किसी ऋण आदि का चुकाना वा किसी वस्तु वा कार्य के बदले में किसी को कुछ देना। कार्य कर लेने पर कार्य कर्ता को श्रम का मूल्य देना ही पेन्शन है, किन्तु आज कल इस शब्द का उपयोग होता है कर्मचारी की वृद्धावस्था में 'निर्वाहार्थ सहायता' के लिये।

वृद्धावस्था में शरीर थोड़ा काम कर सकता है और थोड़ा ही निर्वाह चाहता है किन्तु पेन्शन उस वृद्ध शरीर से थोडा काम भी न लेकर उस को राष्ट्र के सिर पर व्यर्थ बोझा बना कर लाद देती है। हम प्राकृत विधान में देखते हैं कि शरीर उसी अंग को भोजन देता है जो उसका कुछ न कुछ कार्य करता है। जो अंग कार्य करना छोड़ देता है शरीर उसे भोजन देना बन्द कर देता है। यदि कोई अंग रोगादि के कारण अपनी शक्ति को खो देता है, तो शरीर द्वारा उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाता है। यदि भुजा को बांध कर एक लम्बे काल के लिये छोड़ दिया जावे ताकि वह कोई कार्य कर ही न सके तो पता लगेगा कि शरीर ने बाहु को भोजन बन्द कर दिया और भुजा भोजन के अभाव से सूख कर निर्जीव हो गई। यही दशा शेष अंगों की है।

कर्मचारी ने यौवन मे जैसा कार्य किया था वैसा उसका वेतन पाया। विशेष दक्षता के कारण वेतन वृद्धि मिली। फिर वृद्धावस्था में यह पेन्शन कैसी ? बिना कार्य कराये निर्वाह प्रदान क्यों ? थाड़ा निर्वाह दिया जाता है तो उससे थोड़ा काम भी लिया जाना चाहिये। यौवन में पैरां ने बराबर शरीर का बोझा ढोया किन्तु वृद्धावस्था में भी वे उसे कुछ दूर ले ही जाते हैं। वृद्धावस्था में पैर निर्बल हो जाते हैं, बिलकुल अशक्त नहीं हो जाते, अत: वे अल्प निर्वाह लेकर अल्प सेवा करने के लिये तैयार रहते हैं। इसी प्रकार अन्य अंगों का कार्य है।

किन्तु पेन्शन लेने वाला व्यक्ति कर्म-शील सदस्य की स्थिति से राष्ट्र से पृथक हो चुका, मर चुका। राष्ट्र के कार्यकर्ता कमाऊ सदस्य की कमी हो चुकी किन्तु व्यय करने वाले, खाऊ सदस्य के रूप में वह राष्ट्र की छाती पर भार स्वरूप बना हुआ है ही। इस प्रकार पेन्शनर व्यक्ति राष्ट्र के

कमाऊ भाग से पृथक होकर भी राष्ट्र का खाता है। वह मृत होकर भी राष्ट्र को खाने वाला प्रेत है।

यह दूसरी बात है कि अपनी दया से पेन्शनर महानुभाव किसी सार्वजनिक कार्य को आनरेरी रूप से करके समाज के सिर पर यदा कदा दो चार लात अहसान को लाद दिया करें, किन्तु वास्तव में राष्ट्र के हाड़ मांस का एक बहुत बड़ा भाग अपने भक्षण के लिये सुरक्षित करके वह राष्ट्र की सहायता करने का उत्तरदायी नहीं रहा अपितु भक्षण करने का अधिकारी बन बैठा है। क्या ऐसा अन्यायपूर्ण विचित्र विधान हम अपने इस शरीर राष्ट्र में पाते हैं? क्या शरीर राष्ट्र के नेत्र पेन्शन रूप ने कुछ अहार अपने लिये निश्चित व सुरक्षित करके वृद्धावस्था में शरीर को 'अन्धा' भटकने के लिये छोड़ देते हैं? और क्या शरीर इस पेन्शन विधान को स्वीकार कर लेता है? क्या वह चिकित्सा से नेत्रकी पेन्शन (कार्य त्याग) दोष को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता?

तापस जीवन

यदि मनुष्य-जीवन इन्द्रियों के भोगों, रसना की चखौतियों के लिये नहीं है, तो उसे वृद्धावस्था में किस मात्रा तक तपस्वी (द्वन्द्व-सहन-शील) बनने की आवश्यकता है इसे मनु महाराज गृहस्थ-जीवन की सहन-शक्ति के अनुसार क्रमशः निर्धारित करते हैं:—

(१) अप्रयत्नः सुखार्थेषु

(२) धराशयः

(३) वृक्ष-मूल-निकेतनः

सुख-संग्रह में कदाचित भी प्रयत्न-शील न हो—यही अनेक सुखों का अभाव करके द्वन्द्व-सहनशील बनाता चला जायगा। भूमिशयन का

अभ्यास स्वाधीनता के लिये परमोत्तम है। वन के अनेक प्रकार के तृण, जिनमे धान (चावल) का तृण पुआल मुख्य है, शंया को सुखद बनाने में रुई से किसी प्रकार कम नहीं। केवल कृत्रिम तथा व्यभिचारी नागरिक सभ्यता की दृष्टि में यह व्यवस्था 'अभागापन' व 'जंगलीपन' है। वृक्ष के मूल में बनी हुई पर्णकुटी से श्रेयस् कौनसा स्थान हो सकता है जो आवश्यकताओं के लिये सर्वांगपूर्ण और व्यय में न्यूनतम हो ? कला की पूर्ण सफलता इसी में हो सकती है कि 'आवश्यकता' को पूर्ति में कोई बात रह न जावे और केवल 'सजावट' के लिये उस पर व्यय का कोई बिंदु तक न पड़ा हो। न्यूनतम व्यय में अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति का नाम ही सात्विक सौंदर्य, कला की पूर्णता है, और इसी आर्थिक महत्व, कलाश्रेष्ठता के कारण अतीत काल के कोविद आरण्य-कुटीरों के सौंदर्य पर मोहित हुआ करते थे। उन्हें बरबस किसी बात को आदर्श बनाने का दुर्व्यसन न था और न उस प्राचीन भारत में आधुनिक भारत की तरह जहां छाछ भी दुर्लभ होती जा रही है, गोरस आदि का अभाव था कि उस अभाव की बेबसी से ही उन्होंने 'शाकमूलफलेन वा' के अकिंचन जीवन के गीत गाये हों।

धन संग्रह

राष्ट्र के लिये तो धनसंग्रह किया जाना युक्ति-युक्त है किन्तु अपने लिये धनसंग्रह करना राष्ट्र से पृथक् होना है। हमारे शरीर में जो अंग, विकार संग्रह करके रसौली आदि अधिक अंग बना डालता है वह शरीर राष्ट्र के लिये कुरूपता का कलंक तथा सम्बन्धी अंग के लिये भारस्वरूप हो जाता है। नेत्र जब आहार में से अनुचित संग्रह कर लेता है अथवा जब फालतू आहार नेत्रकोष में संग्रह हो जाता है तो वह

संग्रह मोतियाबिन्दु प्रभृति रोग बनकर दृष्टि को रोक लेता है। तब शरीर-राष्ट्र की तरफ से यह योजना होती है कि नेत्र का शल्य-कर्म कराकर उसे पुनः कार्य पर लगाया जावे ताकि शरीर से आहार लेने वाला पेन्शनर नेत्र शरीर का कर्म-शील सदस्य भी हो जावे। अतः मानवराष्ट्र में भी किसी व्यक्ति का धनसंग्रह करना नेत्र के मोतिया बिन्दु के समान है जो शल्यकर्म अपेक्षित है।

हमारा राष्ट्र

वास्तव में हमारा कोई राष्ट्र नहीं है इसीलिये हमारी किसी को आवश्यकता नहीं, यद्यपि हमारा समुदाय ही इस समाज के अस्तित्व को बनाये हुये है। जब शरीर के प्राकृत दांतों की उपेक्षा होने लगती है, तो झट पुराने दांत को उखाड़ कर नया कृत्रिम दांत लगा दिया जाता है और फिर कृत्रिम दांत के स्थान को दूसरा नया कृत्रिम दांत घेर लेता है तब दांत का कोई मूल्य नहीं रहता। शरीर उसे जब चाहे इधर उधर कर सकता है। इसी प्रकार अन्य अंगों की भी कल्पना की जा सकती है, यदि उनके प्रतिनिधि आविष्कृत किये जा सकें। पहले अंग अपने कर्तव्य के लिये थे, वे शरीर के थे, शरीर उनका था। उनको सशक्त, ताजा रखने के लिये शरीर नवजीवन (भोजन) देता था। कर्तव्य उनका स्वभाव था। वे भोजन के लिये कार्य न करते थे, भोजन तो उन्हें कार्य-क्षम बनाये रखने के लिये मिलता था। भोजन न मिलने पर भी अंग तब तक मन्द गति से कार्य करता था जब तक उसमें (अंग में) जीवन रहता था। मृत्यु (शक्ति-शून्यता) ही कर्तव्यपालन को समाप्त कर सकती थी। किन्तु अब शरीर बाजारू अंग क्रय कर लेता है। शरीर राष्ट्र के अंग तो जड़ हैं, किन्तु हमारे इस कृत्रिम विधान वाले मानव-राष्ट्र के अंग

चेतन हैं। वे काम करते हैं तो राष्ट्र नौकरी देता है। काम न कर सकने पर वे भूखों मरने को छोड़ दिये जाते। राष्ट्र निर्वाह देता है तो हम अंग काम करते हैं। राष्ट्र के पास निर्वाह न रहने पर हम सब अंग तत्क्षण राष्ट्र को पंगु बनाकर छोड़ भागते हैं अतः न राष्ट्र हमारा है और न हम राष्ट्र के। हमारे गैरपन ने हमें विवश कर दिया कि हम राष्ट्र द्वारा पृथक् किये जाने पर बेकारी में खाने के लिये वा रोगी होने की असमर्थ दशा में काम आने योग्य धन का संग्रह करलें और इसी दृष्टिकोण को लेकर राष्ट्र और पूंजीपति अपना कार्य कराने के लिये निर्वाह का संग्रह किये बैठे हैं ताकि निर्वाह के अभाव में हम कार्य को न छोड़ भागें। यदि हम राष्ट्र के और राष्ट्र हमारा हो जावे तो हमें निर्वाह की और राष्ट्र को कार्यकर्त्ताओं की चिन्ता न रहे। जब तक राष्ट्र के पास निर्वाह रहेगा, हमें घर बैठे हमारा दाय-भाग मिलता रहेगा और जब तक हम में जीवन व कार्य-क्षमता रहेगी तब तक आहार न मिलने पर भी हम राष्ट्र का काम करते रहेंगे। अतः प्राकृत धर्म वैदिक पद्धति के अनुसार बैंक, कोश तथा प्रोवीडेण्ट फण्ड आदि सब योजनायें प्रतिमापूजा के समान अवैदिक, कृत्रिम तथा भीषण हैं।

कौन वानप्रस्थ हो सकता है ?

जीवन-विज्ञान के सिद्धान्त पर यदि गम्भीर विचार किया जाय तो प्रत्येक प्राणी वानप्रस्थ होता है। यह शरीर का प्राकृत धर्म है। किन्तु प्रस्तुत विषय केवल मनुष्य-प्राणी से सम्बन्धित है, जो संसार भर के राष्ट्रों में अपने चार वर्ण (Classes) बनाये हुये हैं। वे चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) ही वानप्रस्थ हो सकते हैं। यों तो साधारणतया कह दिया जाता है कि ब्राह्मण को काम वेद (ज्ञान)

पढना. वेद पढ़ाना, यज्ञ (सर्वोपकारी कर्म) करना, यज्ञ कराना, दान (उपयोगी द्रव्य) लेना तथा दान देना है किन्तु ब्राह्मण में उपरोक्त बातें तीन रूपों में पाई जानो अनिवार्य हैं। वे हैं:—

(१) स्वभाव, (२) गुण, (३) कर्म। ब्राह्मण का स्वभाव ही ज्ञान-संग्रह तथा ज्ञान-प्रदान, यज्ञ, (सर्वोपकारी—कर्म) करना तथा दूसरों से कराना दान (उपयोगी पदार्थ) देना तथा लेना होना चाहिये। जिसका ऐसा स्वभाव है वही ब्राह्मण-स्वभाव है। गुण, योग्यता, कार्यक्षमता को कहते हैं। जिसमें उपरोक्त ६ कर्म करने की निर्दोष क्षमता है वही व्यक्ति ब्राह्मण गुण—युक्त है। उपरोक्त स्वभाव व गुण से युक्त होकर जो व्यक्ति उक्त ६ कर्मों को मूर्त करता रहता है, वही ब्राह्मण कर्मठ है।

हमारे शरीर में शिर (ब्राह्मण) की पाँचों ज्ञानेन्द्रियें तथा मन और मस्तिष्क जो कार्य करते हैं वही कार्य राष्ट्र के ब्राह्मण समुदाय का है। किन्तु हम देखते हैं कि शिर उदर (वैश्य) से रक्त का पोषण पाकर उस रस रक्त से मांस, मेद, मज्जा, अस्थि की रचना अपने ही घर में अपने पित्त, वायु के सहयोग से करता है। उसके (शिर के) समस्त अंग ब्राह्मण कर्म (संचालन, निरीक्षण, अनुभव, मनन तथा चिंतन कार्य) में अपनी योग्यतानुसार सहायता करते रहते हैं, तथा अपने अपने शरीर के लिये मांस, मज्जा, मेद, अस्थि की रचना स्वतः करते हैं अतः प्रत्येक को दो कार्य करने पड़ते हैं—(१) शरीर राष्ट्र के लिये ज्ञान और मनन, (२) अपने लिये पोषण व संरक्षण। पहले कार्य को करने की अन्य में क्षमता, प्रवृत्ति ही नहीं, उन्होंने कोई सेवक नहीं रखा।

शरीर के ब्राह्मण (शिर) की उपरोक्त प्राकृत व्यवस्था के समान

ही राष्ट्र के ब्राह्मण-समाज की व्यवस्था निर्दोष, निर्भ्रान्त हो सकती है। अतः राष्ट्र के ब्राह्मण के निजू कार्य (उसकी निजी निर्वाहादि की पूर्ति) के लिये किसी प्रकार इतर व्यक्ति की सेवक-रूप में होने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, चाहे वह ब्राह्मण किसी सम्पन्न राज्य का प्रधान सचिव हो या किसी कंगाल की पाठशाला का निर्धन अध्यापक।

इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को अपने निजी कार्यों के लिये किसी सेवक की आवश्यकता नहीं। चारों वर्ण अपने निजी प्रबन्ध का भार अपने ऊपर ही लेकर राष्ट्र का कार्य अपने स्वभाव, गुण के अनुसार करें और राष्ट्र से निर्वाह लें। जो व्यक्ति जिस वर्ण को उसके स्वधर्म (bonafide duties) में सहायता देता है वह व्यक्ति उसी वर्ण का है, सेवक अथवा शूद्र नहीं तब—

सेवक और शूद्र कौन हैं ?

शूद्र समाज का वह समुदाय है जो समाज के उस कार्य को करता है जो केवल शारीरिक श्रम से साध्य है। वह भी इसलिये कि इससे उच्च-तर कार्य कर सकने की दक्षता इस समुदाय के मस्तिष्क को प्राप्त ही नहीं, हमारे पैर शरीर राष्ट्र का बोझा ढोने के लिये हैं, न कि शिर (ब्राह्मण) उदर (वैश्य) कुल की निजी सेवा शुश्रुषा करने के लिये। कृषि, शिल्प भवन-निर्माण, कूप, तडाग, सड़कें तथा अन्यान्य सर्वोपकारी कार्य, आयुध आदि की रचना आदि राष्ट्र के कार्य हैं। इन कार्यों की पूर्ति के लिये राष्ट्र के जिन अवशिष्ट व्यक्तियों से सहायता ली जावे वे शूद्र हैं, क्योंकि इससे अधिक चातुर्यपूर्ण कार्य में उनका मस्तिष्क नहीं चलता।

इस समुदाय से निजी सेवा का कार्य कराने की घृणित प्रवृत्ति पूंजी-वाद व प्रभुत्व ने उत्पन्न की। क्षत्रिय और वैश्य भूमि तथा धन का परिग्रह

करके स्वयम अकर्मण्य बनते गये और अपने निजी गृह सम्बंधी कार्य इन शूद्रों से कराने लगे। उत्तरोत्तर प्रमाद की वृद्धि के कारण तथा पूंजी वाद की बढती के साथ साथ उन्होंने कुछ न करने को ही शालीनता बना कर अपने व्यक्तिगत कार्यों, अपनी शारीरिक सेवाओं तक को भी इन सेवकों के ऊपर लाद दिया। मुखप्रक्षालन जैसे चार पांच सुकुमार कार्य अपने लिये रख लिये और अन्त में इस पूंजीवाद व प्रभुत्व की क्रूरता इतनी बढ़ गई की इस सम्पन्न सुकुमार पूंजीपति समुदाय ने मलविसर्जन तकका कार्य भी घर में ही करना आरम्भ कर दिया, जिस के शौच का भार भी इसी के भोले भाई शूद्र के सिर मढ़ा गया। दास, दासी, नाई (अंगों को दबाने वाला), धोबी, मेहतर आदि की रचना पूंजीपतियों तथा प्रभुओं के घृणित जीवन के आविष्कार हैं, ये सब राष्ट्र की आवश्यकतायें नहीं।

'दूसरों से वही व्यवहार करो जैसा अपने प्रति चाहते हो' इस बात को लेकर यदि हम गम्भीर विचार करें तो हमारा स्वाभिमान व स्वावलम्बनप्रिय अन्तः करण हमें बतायेगा कि राष्ट्र के छोटे से छोटे कार्य को सेवा भाव से करने में बड़े से बड़े व्यक्ति का गौरव है, किन्तु अपने पेट के लिये किसी व्यक्ति विशेष की कोई भी सेवा करना अपमानजनक तथा असह्य है। जो स्थिति हम अपने लिये नहीं चाहते उस स्थिति में हम दूसरों को रहने के लिये विवश करते हैं। हमारा यह व्यवहार कहां तक उचित हैं, यह भी चिन्तनीय है।

यदि ब्राह्मण की जीवनचर्या शरीर के ब्राह्मण (शिर) के समान प्राकृत है, चाहे वह राष्ट्र का प्रधान सचिव ही क्यों न हो, तो उसके लिये मनु का तापस-वानप्रस्थ-जीवन गृहस्थकाल से ही अभ्यस्त होने के

कारण सहजपालनीय है। पूंजीवाद पंथ में आये कृत्रिम सुकुमार ब्राह्मणों के लिये वह एक विडम्बना है । क्षत्रिय का जीवन तो तलवार की धार है। उसके लिये तो वानप्रस्थ जीवन युद्ध सम्बन्धी कठिन कार्यों से विश्राम लेने के समान एक सुकुमार कार्य है। वैश्यों का सब से बड़ा भाग कृषक है। कृषक के लिये मनु का वानप्रस्थ जीवन न सुकुमार है न कठोर और इसी प्रकार वह शूद्र से भी सहज पालनीय है।

क्षत्रिय व वैश्य भूमि व धन का परिग्रह करके पूंजीपति बन गये तो उनके पुरोहित ब्राह्मण भी धन और प्रभुता से वंचित न रहे और इस प्रकार इन तीनों वर्णों को सुकुमारता ने आ घेरा । वानप्रस्थ-जीवन एक प्राचीन नैसर्गिक नियम था, इसका मिटाना इन्हें रुचिकर था न राष्ट्र को। अतः 'काशीवास', 'हरिभजन' जैसे सुकुमार वानप्रस्थों ने जन्म लिया। सम्पन्न सुकुमार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने अपने वित्तानुसार काशी में अपने भवन बनाने लगे, कुछ पंडों के घर पर रहने लगे। जो इतना भी न कर सके वे अपने नगर, ग्राम से बाहर अपनी अपनी बगीचियों में मकान बना कर रहने लगे। इनका कार्य-क्रम था:—

(१) नाम जपन व स्वाध्याय ।

(२) अपनी अपनी संतान को सांसारिक घृणित दाव घात की शिक्षा देना ।

(३) राष्ट्र का अन्न आदि खाना।

(४) राष्ट्र का कुछ न करना।

पौराणिक, प्रतिमा-पूजा के लिये और हम आर्यसमाजी शब्द-पूजा के लिये काफी लाँछित हैं। हमें वानप्रस्थ जीवन प्यारा नहीं अपितु 'वान-

प्रस्थ' शब्द पूज्य था। इसी लिये 'काशीवास' पौराणिक शब्द को ग्रहण न करके उसके स्थान पर 'वानप्रस्थ' प्राचीन शब्द ला रक्खा, किन्तु रूपरेखा 'काशीवास' की ही रक्खी और नन्ही नन्ही नगरियों के समान 'वानप्रस्थ आश्रम' बना डाले, जहां हम राष्ट्र के कोढ़ बनकर राष्ट्र का भक्षण तो करते हैं, किन्तु राष्ट्र का काम कुछ नहीं करते।

वृद्धावस्था आ चुकी थी, पौत्रादि का जन्म हो चुका था विद्वान् व स्वाध्यायशील भी थे किन्तु पूंजीवाद का ममतामय सुकुमार जीवन वनगमन न करने देता था। इसी कारण महात्मा विदुर, आदित्य ब्रह्मचारी भीष्म अपने राजकीय उपासना-मन्दिर में नामजपन किया करते थे। वे वानप्रस्थ बनकर आरण्य-निवास न कर सके। जब पुत्र-पौत्र, भानजे, भाई, भतीजे, नाती सब कुरुक्षेत्र के राक्षस ने चबा डाले, हस्तिनापुर का राजमहल युवती विधवाओं का शिविर बन गया, मातायें निःसंतान हो गईं, तब इस रोमांचकारी दृश्य को न देख सकने के कारण, संताप के अतीव प्रहार से हतबुद्धि हो वही पंडित-प्रवर, स्वाध्यायशील महात्मा विदुर, धृतराष्ट्र आदि को लेकर घर से भाग गये। शोक-संताप की पूर्व स्मृति ने इतना तपाया कि वे सूख सूख कर, निराहार रह कर निष्प्राण होगये। यह वानप्रस्थ नहीं था। सर्वनाश को न सहकर घर से भागकर सुदूर वन में आत्महत्या करना था। एक अनिर्वचनीय क्रूर करुण, दुःखान्त दुर्घटना थी। अभी भोग की लालसा शेष थी, यद्यपि भावुक युधिष्ठिर के हृदय में गृह-दाह की ज्वालायें यदा कदा आत्महत्या के लिये उत्तेजना उत्पन्न कर दिया करती थीं, किन्तु द्वारिका में सुकुमार-जीवन प्रिय यादव प्रभुओं में गृह युद्ध छिड़ गया, सर्वनाश की दुर्घटना होगई। पांडवों के अनन्य मित्र, एक मात्र मन्त्रदाता कृष्ण एक व्याध के शर का आहार बन गये, द्वारिका से राज महिषियों को हस्तिनापुर लाते हुये

तुच्छ भीलों ने विख्यात धनुर्धारी अर्जुन को बुरी तरह लूट लिया। इस प्रकार सर्वनाश से संतप्त तथा हर ओर से हताश पांडवों को आत्महत्या की सूझी, क्योंकि शोक संताप व सर्वनाश ने उनके हृदय को विदीर्ण कर दिया था। निदान पांचों पांडव राज्य का भार बालक परीक्षित पर छोड़कर द्रोपदी सहित भाग खड़े हुये और हिमालय में जाकर गल गये। तब से समस्त भारतवर्ष में हताश तथा शोक-संतप्त व्यक्ति के घर छोड़ कर भाग जाने की क्रिया का नाम 'पांडवों का हिमालय में गलना' पड़ गया है।

हम इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके कि पूंजीवाद का सुकुमार जीवन प्राकृत वानप्रस्थ को धारण कर ही नहीं सकता। वह या तो नाम जपन का काशीवास ग्रहण करेगा या पुत्र कलत्र के नाश होने पर हतभाग्य बनकर विदुर व पांडवों की आत्महत्या के समान हिमालय में गल मरेगा। हम नित्य देखते हैं कि जीव, जीवन और काया को दार्शनिकता को न जानने वाला अपढ़ मज़दूर शीतादि को अभ्यास होने से सहर्ष सह लेता है, किंतु नित स्वाध्याय-रत दार्शनिक वेदान्ती ग्रीष्म के दिवाकर की आतप से अधीर हो उठता है।

ज्ञानेन्द्रियों के भोगों के समान ही स्वाध्याय भी मनोरंजन का एक विषय हो बन जाता है, यदि वह शारीरिक जीवन में कार्यरूप धारण नहीं कर लेता। यही कारण है कि हमारे श्रद्धेय पण्डित-प्रवर स्वर्गीय श्री पं० घासीरामजी किसी प्राकृत-वानप्रस्थ कुटीर में किसी होनहार दयानन्द ब्रह्मचारी को अपने जीवन का स्वाध्यायप्रसाद प्रदान करने का सौभाग्य प्राप्त न कर सके। यदि तुलना की दृष्टि से देखा जावे तो स्वर्गीय पण्डित जी विद्वत्ता में महाभारतकालीन पण्डित-प्रवर महात्मा विदुर से कम न थे। आजकल का पूंजीवाद उससे भी बढ़ गया है। वह आजकल इतना लागू हो गया है कि उसनें प्राचीन काल के 'सदाचार' प्रचार की तरह

विलास और सुकुमारता को सर्वप्रिय बना दिया है। छोटी सी आय वाला व्यक्ति भी अपने शरीर को पुष्ट भोजन न देकर उसे (शरीर को) सुकुमार व फैशनेबिल बनाने में लगा रहता है। हमारे समाज का दृष्टि-कोण भी इसी प्रकार का बन गया है। परिणाम स्वरूप सात्तर व्यक्तियों के लिये सुकुमारता जीवन का माननीय अंग बनती जारही है। प्रचुर आय वाले, विशेषकर सरकारी कर्मचारी यौवनकाल का सुकुमार कृत्रिम तामस जीवन बिताकर अब वृद्धावस्था में प्रवेश कर रहे हैं। सात्विक आहार से प्रकृति आहार पर आना तो सहज है, किंतु तामस आहार से प्राकृत आहार पर आना एक दम दूसरे लोक की बात है। तामस में मादकता होती है और मादकता का त्याग तो क्या न्यूनता भी असहनीय हो जाया करती है। अतः तामस से राजस पर, राजस से सात्विक पर, और तब कहीं अन्त में सात्विक से प्राकृत आहार पर लौटने की सम्भा-वना हो सकती है। यह एक अप्रिय, क्लिष्ट, कष्टसाध्य योजना है। इसी लिये मैंने अपनी योजना में गृहस्थ व्यक्तियों को भी आर्षकुल का कुटुम्बी होने का विधान रक्खा है, यद्यपि 'गुरु' पद योग्य उपयुक्त व्यक्ति तो वानप्रस्थ ही है।

पेन्शनरों से इस अप्रिय कार्य में योग की आशा नहीं, क्योंकि उनकी सुकुमार काया सुकुमार भोगों में रहकर ही नामजपन कर परलोक सुधार में रत है। जो यौवन भर अच्छी नौकरी व धन की तलाश में हाथ पांव मारते मारते हताश हो चुके हैं वे अभागे वानप्रस्थ भी इस योजना में उत्फुल्ल कार्य न कर सकेंगे। इसके सफल और सजीव होने की सम्भावना उन्हीं पथिकों से होगी जो धन के प्रतिकूल दिशा में क़दम बढ़ाते ही स्वाधीनता के आनन्द में मस्त हो जाया करते हैं।

हमारा भविष्य

(क) आर्य समाज का भविष्य

जब बौद्ध, ईसाई, मुसलमान तथा अन्य मतावलम्बी गुण की अपेक्षा गणना से लोभ करने लग गये, अदूर दर्शिता के मोह ने, जल्दबाजो की प्रवृति ने जन-साधारण को अपनी संघ शरण में ले जाने मात्र को ही स्वसिद्धान्तों का प्रचार मान लिया, मानव जीवन के शैशव काल में अपने सिद्धान्तों के रचनात्मक कार्य से तटस्थ हो रहे तब वे मत अपनी आत्मा को खोकर मृतक शव, जड़ मूर्त्ति ही रह गये और आत्मा-शून्य शव की तरह आज सब प्रकार के दुर्व्यसनों में सड़ रहे हैं।

वे ही वेद संहितायें, वे ही मन्त्र और वे ही शब्द तब थे जो आज हैं किन्तु उनके मानने वाले तत्कालीन आर्य, दम्भ व आडम्बर के फेर में पड़कर—"वेदवादरेता" बनकर अहमन्यता, लोकेषणा, गुरूडम, प्रतिष्ठा की पूर्ति के लिये, देवताओं को भ्रान्त कल्पना तथा मिथ्या सिद्धि के निमित्त मूक पशुओं की बलि से होम, होम से अत्याचार, लूट और स्तेय में विजय की कामना करते थे। वे होम आध्यात्मिक नहीं प्रत्युत आधुनिक विवाहोत्सवों के समान राग-रंग आडम्बर युक्त अपव्यय के ढोंग बन गये थे। उन ढोंगो होमों से यजमान की इस लोक में प्रतिष्ठा तथा परलोक में स्वर्ग-प्राप्ति मानी जाती थी। उन महंगे यज्ञों को धन-शक्ति सम्पन्न राजा महाराजा ही कर सकते थे। सत्यनिष्ठा, संयत जीवन, सदाचार का

मूल्य, लोक में प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले यज्ञों के सामने कुछ भी नहीं था। पुरोहितों की दृष्टि में भी यज्ञ के पश्चात् भण्डार के भोजनों, दक्षिणा के धन तथा दान की गौवों व कीमती वस्त्र व सुनहरे अलंकारों का जो मूल्य था वह यजमान के स्नेह, सत्यनिष्ठा व भक्ति का नहीं था ।

प्रतिष्ठा के लोभ से मंहगे यज्ञों की प्रतिस्पर्धा भयंकर रूप धारण करती गई जिस के लिये धन , वैभव की आवश्यकता बढ़ने लगी और उसकी पूर्ति के लिये "संतुष्टा नृपा नष्टां" का आश्रय लेकर राजाओं को दिग्विजयी बनने की लालसा ने आ घेरा। न्याय, शान्ति व धर्म के के लिये 'क्षात्र' शब्द की परिभाषा केवल कोष का अंग रह गई। वे "क्षत्रिय" अकारण ही पड़ोसी राज्यों को नष्ट करके लूटने लगे लूट ही दिग्विजय थी। लूट के धन से यज्ञों का शानदार अस्तित्व था और उस दिग्विजयी लूट की सफलता के लिये उस तमोगुण मिश्रित रजोगुण की पूर्ति के लिये यज्ञ किये जाते थे। वैदिक देवताओं से वेदमन्त्रों द्वारा उस लूट की सफलता के लिये प्रार्थना की जाती थी। वैदिक देवताओं का यही आवाहन था। ईश्वर के नाम पर, वेदों के आधार पर राग द्वेष का भयंकर ताण्डव- नृत्य, यह कृत्रिम अनृत अनुष्ठान, उन पुरोहित और यजमान नामक वेद और ईश्वर के ठेकेदारों द्वारा हो रहा था। बुद्ध की आत्मा इसे न सह सकी। मानव जीवन का प्राण उन ठेकेदारों के दुष्कर्म से घुट रहा था। यह त्रस्त, आर्त की तरह बुद्ध के चरणों में झुक गया और वेद तथा ईश्वर के नाम को भारत से बाहर निकाल दिया गया।

बौद्ध सत्य को स्वीकार करके न धारण कर सके, न करा सके और शीघ्र ही नाम भेद करके उसी पाखण्ड और ढोंग में ग्रस्त हो गये। वेद

और ईश्वर का नाम दुष्टता का अट्टहास माना जाने लगा, जिसे न सहकर कुमारिल और शंकर जैसे दिगन्त वीरों ने बौद्ध धर्म की जड़ें भारत से निकाल फेंकी। जो हो चुका है उसके होने की फिर भी सम्भावना हो सकती है। जिस वेद और ईश्वर के नाम को बौद्धों ने अलोप कर दिया था उसी वेद और ईश्वर के नाम को ठेकेदार आर्यसमाज को भी अलोप किया जा सकता है, यह हम चाहे न मानें क्योंकि बुद्ध से पहले आर्यों ने और शंकर से पहले बौद्धों ने भी इसे नहीं माना था। दुराग्रहो का यह सब से मुख्य लक्षण है, और इसी का नाम सर्वनाश है।

वैदिक जीवन में रंगे हुये आर्षकुलों के स्नातक ही आर्यसमाज को बचा सकेंगे, नहीं तो वह दिन दूर नहीं है कि जब एक ही साथ हंसने और गाल फुलाने की चेष्टा करने वाला आर्यसमाज अपने वेद व ईश्वर के सहित बुद्ध, कुमारिल व शंकर के दुर्दमनीय पुरुषार्थ द्वारा भारत से निर्मूल कर दिया जावेगा। सुदूर उत्तर पश्चिम में हम देख चुके हैं कि ईश्वर के नाम और खुदा की किताब को लेनिन ने मार भगाया। आज हम ईश्वरवादी लेनिन को भले ही गाली दें, परन्तु ईश्वर के नाम को हत्या करने वाला लेनिन नहीं प्रत्युत ईश्वर के नाम की ठेकेदार जारशाही और उसकी चर्चमिशन-मशीन के पुर्जे थे।

यदि हम अब भी न संभले तो "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" तो क्या सिद्ध होगा, हमारी रूप रेखा भी मिट जायगी।

जिन्हें ऋषि-दयानन्द के व्यक्तित्व की पूजा में ही निमग्न होना है उनके हृदयों में भी भावी आशंका करुण क्रन्दन करने लग गई है कि यदि—

"रंगा न रंगीले के रंगीले रंग राग में।
तो प्यारे दयानन्द की कहानी रह जायगी"

(ख) भविष्य का रंग मंच

बौद्ध धर्म का इतिहास पढ़ते पढ़ते मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के भावी दिगन्त वीर वैदिक धर्म की आत्मा का सर्वनाश करने किन्तु आर्यसमाज का दयानन्दी सम्प्रदाय के रूप में प्रसारित करने में आधुनिक सभ्यता और विकासवाद के अन्तर्गत मानव समाज को फंसाने के लिये किन किन योजनाओं का मोहक जाल फैलावेंगे। बौद्ध तथा इतर धर्मों का प्रयुक्त मनोवृत्तियों को आधुनिक विकास से परिचुम्बित करानेसे प्रतीत होता है कि भविष्य बड़ा ही विचित्र रूप में दर्शन देने को उत्सुक है।

पहला दृश्य

स्वामी दयानन्दजी शुष्क, अरसिक थे। वह "भारत-हितैषी" पत्र में "भारत-दुर्दशा" नाटक के छप जाने पर ही विरोध कर बैठे। अब दयानन्द की विशाल तेजस्वी मूर्ति तो है नहीं जिसकी सौम्यता के दर्शन मात्र से मनुष्य श्रद्धावश चरणों में लोट जाते थे। हमारे समाज में दो चार छोटे मोटे योगाभ्यासी थे जो बहिष्कृत किये गये वा स्वयं तटस्थ होते जारहे हैं। अब धर्म में दिल अटकने का कोई सहारा नहीं रहा। भजन पुराने हो चुके। रोज रोज मूंग की दाल कौन खावे? धर्म को चटपटा तो बनाना पड़ेगा ही, अन्यथा दयानन्द जैसे महापुरुषों के अभाव में कौन श्रद्धावश इस पंच तिक्त, सप्त कषाय के मोदक को कण्ठ से नीचे उतरने देगा। इसी धार्मिक चटपटेपन के आधार पर राधाकृष्ण और गोपियों की रास लीलायें रची गई। धर्म मरता मरता गोपियों के अभिनय से जिन्दा रह गया। वह युग उसी प्रकार की "रें रें" वाली

रासलीलाओं का था। उस समय वैसे ही प्रदर्शनों से धर्म को सन्निपात के प्रहारों से बचाया जा सकता था।

किन्तु अब धर्म को बचाना ही नहीं उसका प्रसार भी करना है। "जय जगदीश हरे" और "लहराती है खेती दयानन्द की" पुराने गीत हो गये। सण्डे समाज के लिये भी आर्य मन्दिर में आने के लिये कर्णेन्द्रिय को रिझाने वाला कोई नया विषय नहीं रहा।

सदाचार, सत्यनिष्ठा, तपस्या इस कलयुग में 'पुस्तक' और 'वाणी' की सम्पति हैं। आवश्यकता है बोलने वाली मशीनों की जो "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के रिकार्डों का शब्द-संदेश चीत्कार करके सोते हुओं के कानों में भी डाल दें।

सोलहों संस्कारों के रिकार्ड बनेंगे जो एक खरीदे हुये वा किसी शौकीन से मांगे हुये ग्रामोफोन पर बैठकर यज्ञ-मण्डप में, ऋत्विज (ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता, पुरोहित) का कार्य करेंगे। दक्षिणा देने व भोजन कराने का अपव्यय बच जावेगा। "हिज़ मास्टर्स वायस" प्रभृति ग्रामोफोन कम्पनियां कुछ धन लेकर अनेक संस्कारों की पुरोहिताई सरलता से कर लेंगी। दूसरा लाभ यह होगा कि स्वामी दयानन्दजी के आदेशानुसार ऋत्विज धार्मिक, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, परोपकारी होने चाहिये, इस संकटयुग में ऐसे ब्राह्मण व उपदेशक दुर्लभ हैं किन्तु लाख के बने हुये ग्रामोफोन के उन जड़ रिकार्डों में लेशमात्र भी अधार्मिकता, अजितेन्द्रियता, लोभ व अपकारता नहीं हो सकती।

समाज मन्दिरों में बेतार के रिसीवर लगेंगे। आर्यसमाज का नामी लीडर व्याख्यान देगा देहली में और आवाज़ पहुंचेगी गोरखपुर जिले के एक छोटे से कस्बे के आर्यसमाज मन्दिर में भी। तमाशबीन

सिर पर पांव रख कर दौड़ेंगे और मन्दिर ठसाठस भर जावेंगे।

उँगलियों पर गिने जाने योग्य जो दो चार साधु स्वभाव विद्वान, महात्मा आर्यसमाज में बचे हुये हैं उनके वाक् चित्रपट (टाकी) तैयार कराये जावेंगे ताकि उनकी अस्पर्श्य (Untouchable) निराकार प्रतिमाओं का दर्शन ग्राम ग्राम कराया जा सके। फिर वाक् कला में दक्ष ओजस्वी व्याख्याताओं के टाकी तैयार कराये जावेंगे। उनके व्यक्तिगत जीवन से कोई सरोकार नहीं होगा, क्योंकि श्रोता व दर्शक फिल्म पर खिचे उनके चित्रों को देखने व फिल्म के किनारे पर भरे हुये शब्द (Sound) को सुनने आवेंगे, श्वेत चादर पर थिरकने वाली तस्वीर व हार्न (भोंपू) से निकलने वाली आवाज़ के चरणों में बैठ कर किसी को योगाभ्यास तो सीखना है ही नहीं। कला से चित्रित (Photographed) महानुभाव निजी जीवन के कैसे ही गये बीते क्यों न हों किन्तु उनकी वाणी, भावभंगी, अभिनय कठोर पसलियों तक के भीतर घुस जाने वाले हों। कुछ दिनों बाद यह नशा भी फीका हो जायगा। वेदों की इन पुरानी कथाओं के टाकियों को सुनते सुनते लोग ऊब जावेंगे। "समाज मन्दिर में जनता नहीं आती" इस रोग के फिर अंकुर फूट निकलेंगे। पियक्कड़ (कनरसिया) गहरी बोतल की मांग पेश करेंगे तब:—

दूसरा दृश्य

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के प्रचार के लिये वैदिक धर्म के दिगन्त वीर "टाकी कम्पनियां" खोलेंगे। जिनमें हमारे "वेद प्रचार फण्ड" के परम पवित्र पैसे से खरीदे जाकर मिस्टर महमूद हसन स्वामी दयानन्द का पार्ट करेंगे और मिस हसीना नन्हीं जान का। उनके पार्श्व में

सहायक रूप से रहने वाले हमारे अनाथालयों के गवैये लौंडे अभिनय की यज्ञ-मय कला का अध्ययन व अभ्यास करेंगे। शनैः शनैः डी० ए० वी० स्कूल व कालेजों के रसिक छात्र व गुरुकुलों के स्नातक स्नातिकायें इस वेद-प्रचार में योग देंगे, क्योंकि "आजीविका समस्या" की पूर्ति भी तो करनी पड़ेगी ही। हमने इन्हें सरकस के जन्तुओं की तरह भिन्न भिन्न प्रकार के चमत्कार पूर्ण खेल सिखाये हैं। पेट पालना नहीं सिखाया। सरकस के रंगाचार्य को भी तो अपने जन्तुओं को आजीविका का प्रबन्ध करना पड़ता ही है। जन्तु तो तमाशा दिखाकर निश्चित हो जाते हैं। अभी तक तो हम उन्हें बीमा कम्पनियों में लोगों की जिन्दगी "वैदिक रीत्यानुसार" बिकवाने को भेज रहे हैं तथा राक्षस काय मिलों में फंसाने लगे हैं, जहां दिन को सोना, रात को जागना जैसा सुमधुर प्राकृत वैदिक जीवन बिताना पड़ता है, जहां श्रमजीवी (मज़दूर) आजीविकोपार्जन के साथ साथ गुण्डेपन का अध्ययन व अभ्यास कर लेते हैं तथा आराम के दिन अपनी कमाई का एक बड़ा भाग वेश्या और मद्य के चरणों में रख आते हैं।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की टाकी कम्पनी में फिल्म स्टार मिस्टर महमूद हसन व मिस हसीना के सदाचार, सत्यनिष्ठा, अहिंसा व ब्रह्मचर्य का रंग चढ़ेगा हमारे अनाथालयों के गवैये लौंडों पर। फिर उत्तराधिकार प्राप्त करते करते शेष अभिनेताओं को भी प्राप्त हो ही जायगा।

स्वामी सर्वदानन्द जी जैसे साधुओं की हमें फिर आवश्यकता न रहेगी। वह अपने दो चार भक्तिरस के व्याख्यानों के वाक् चित्रपट तैयार करा भले ही कुमारिल भट्ट की तरह अग्नि ले लें। दूसरे फिल्म

एक्टरों के समान श्री स्वामीजी महाराज को हृदय के द्रवित करने वाली कला कहां नसीब है। मिस्टर मुहम्मद हुसैन के दयानन्द के पार्ट को देखकर विधर्मी शुद्ध हो जावेंगे और मिस हसीना के अभिनय को देख कर वेश्याय व्यभिचार को छोड़ एक दम दयानन्दी भिक्कुनी बन जावेंगी।

सुयोग्य एक्टर मिस्टर मुहम्मद हुसेन व मिस हसीना किस धर्म का अनुसरण करेंगे यह भविष्य के गर्भ में ही लुप्त रहेगा। आज तक राम, सीता, हरिश्चन्द्र, शैव्या, सावित्री, कृष्ण आदि के नाटकों तथा वाक्-चित्र-पटों को देखकर कितने हिन्दू मुसलमान दर्शक (जो थ्येटर हालों में टक्करें मारा करते हैं) उनके भक्त तथा अनुयायी बने? यह बात विषयान्तर मानी जावेगी। मानव समाज को पास बैठा कर अपने ऋत-जीवन के प्रभाव से श्रद्धा (सदाचार का अभ्यास व जीवनचर्या का कार्यक्रम बनाना) को धारण कराने के कष्ट-साध्य व्यापार में पड़ने का कष्ट न उठाना पड़ेगा। वाक्-चित्र पटों के शब्द सीसे की गोली के समान कानों के मार्ग से मस्तिष्क में घुस जावेंगे। क्योंकि वे टाकी पारदभस्म के समान योगवाही होंगे। इस प्रकार पुरानी, किरानी, कुरानी कहां तक हमारी भावी योजनाओं से बच सकेंगे! हमारी विजय के सामने वे विचारे क्या खाकर खड़े रह सकेंगे।

वास्तविक कार्य की रूप रेखा

(क) आर्षकुलों की आवश्यकता

किसी व्यक्ति, समाज, जाति अथवा राष्ट्र के बालकों की शारीरिक मानिसिक एवं मस्तिष्क सम्बन्धी विकास किस प्रकार किया जावे ताकि उनका भावी जीवन प्राकृत सत्यनिष्ठ, सदाचारमय होकर समाज, जाति राष्ट्र एवं उन बालकों के लिये यज्ञ-मय कलयणकारी, पथप्रदर्शक बने, यदि इतना न भी हो सके तो वह वयो-वृद्ध बालक अपने तथा समाज, जाति एवं राष्ट्र के लिये अनिष्टकर न हो, इस विषय पर 'ब्रह्मचारी का प्राकृत जीवन' शीर्षक में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। जिस प्रकार हम आर्य समाजियों ने अपनी संतान को आर्य समाजी बाबू बनाकर आधुनिक सभ्यता के अन्तर्गत प्रतिष्ठा से चार पैसे कमाने के लिये तथा मेकाले की गवर्नमेन्ट को काले चमड़े वाले आर्य समाजी अंगरेज देने के निमित्त अनेक आर्य स्कूल व कालेज खोले, अन्य सम्प्रदायों को अपनी स्वच्छ तथा शांत संस्कृति का पश्चमीय-करण करता देखकर जिस प्रकार हमने भी "तू करे सो मैं करूं" की धुन में आर्य स्कूल व कालेज खोल कर दूसरों के बालकों के साथ साथ अपनी संतान को भी प्रतिष्ठित गुलाम बाबू बनाने की घृणित स्वार्थ सिद्ध कर ली, ठीक इसी प्रकार अपना

उस प्रशंसनीय स्वार्थ सिद्ध करने के लिये भी अब "आर्षकुल" खोलने अनिवार्य आवश्यकता है, यदि हम अपनी अभागी संन्तान की आत्मा से (जो शैशवस्वभाव से ही सौम्य तथा प्राकृत है) न कि उसके शरीर शृंगार से सच्चा प्रेम करते हैं।

उपरोक्त कारण तथा आवश्यकताओं में से प्रथम किसी सुव्यवस्थित तथा सदाचार-रत राष्ट्र के शिशु-जीवन-विकास से सम्बन्ध रखती है तथा दूसरी हम अव्यवस्थित, आर्य जीवनविहीन आर्यों की अभागी सन्तान के अभ्युदय से—हमारे प्रशंनीय भावी स्वार्थ से उपरोक्त दो आवश्यकताओं से भी कहीं महान, अनिवार्य आवश्यकता है मनुष्य तत्व की रक्षा, ऋषि ऋण की बेवाकी, नरमेध यज्ञमय जीवन को मूर्त करना तथा संसार के लिये सार्वभौम शान्ति की पुनः स्थापना, जिसके लिये हमने महर्षि दयानन्द से उत्तराधिकार पाकर 'कृण्वन्तों विश्वमार्यम' का सूक्त (सु + उक्त) यज्ञोपवीत वत् धारण किया हुआ है। अन्य सम्प्रदायों के श्रीगणेशाय नमः आदि शीर्षकों के समान ही हमारा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' कहीं साम्प्रदायिक चिन्ह न बन जाय, यदि इस भावी आशंका से बचना है तो हमें इस सूक्त को अपने क्रियात्मक जीवन में मूर्त बनाना ही लाभप्रद होगा। वेदों का शब्द-सन्देश हम बहुत दूर तक पहुंचा चुके। हमारे गत ६० वर्ष के परीक्षण ने हमें यह अनुभव करा दिया कि सत्य सोपान को पीने का दूसरों को उपदेश देकर हमने खुद उसे चखकर उस का स्वाद नहीं जाना। जब वक्ताओं और श्रोताओं ने ही उस रस को नहीं चाखा; जहां तक यह सन्देश गया था वहां ही उस का धारण नहीं किया गया तो आगे धारण करने वाले मिल जांयगे, यह कुछ आशाप्रद प्रतीत नहीं होता। स्वीकार किया हुआ किन्तु धारण न किया गया अत पन्थ का

वैदिक संदेश आगामी द्वादश वर्षीय कुछ युगों में निर्मूल हो जायगा ऐसा हम अपनी गई और वर्तमान दशा को देखकर अनुभव करने लगे हैं दुर्गुण भी तभी सफल तथा चिरस्थाई होता है जब उसके व्यसन को जीवन के अभ्यास में परिणत कर लिया जाता है। चाय और सिगरेट कम्पनियाँ कथन-प्रचार के बजाय उनके व्यसनों का अभ्यास करा देना ही अपने हित में अधिक सफल और स्थायी समझती हैं। मनुष्य जाति का शैशव काल ही सर्वोत्तम उपजाऊ क्षेत्र है जहां सद् तथा असद् व्यसनों की अमिट स्थापना की जा सकती है।

हम अन्य मतों के इतिहास में एक माननीय अनुभव पाते हैं कि जब तक उनके संचालक अपने अपने मत के मौलिक रूप को मानव जाति के शैशव काल में वपन करते रहे, तब तक उनका मत विशुद्ध रूप में फूलता फलता रहा और जब प्रमाद, दलबन्दी, संख्यावृद्धि के प्रलोभन तथा गुरुडमने साम्प्रदायिकता के प्रसार में क्रियात्मक स्थापना के बजाय 'शब्द-संदेश' का रूप धारण कर लिया तभी वे मत दुर्व्यसनों के गर्त में गिर कर भिनकने लगे। उन मतों का माननीय प्राण केवल 'विधान' बन कर 'वाणी' और 'पुस्तक' का शृंगार मात्र रह गया !

मतों के इतिहास में हम सर्व प्रथम बौद्धधर्म को पाते हैं, जो सिद्धार्थ गौतम के द्वारा—वेदों के नाम पर, ईश्वर के लिये मूक प्राणियों की हत्या, उनके मास की यज्ञों में हवि को न देख सकने के कारण प्रेम और श्रद्धामय क्रान्ति से उत्पन्न हुआ। किन्तु आज हम उसी बुद्ध के अनुयायी बौद्धों का अन्य मतों में हराम जीवों तक के कच्चे मांस तक को खा जाने वाला पाते हैं। इसके मूल को यदि हम ढूंढें तो पता लगेगा कि बुद्ध के जीवन काल से गुरुकुलीय शिक्षा द्वारा मानव जाति

के शैशव काल में बुद्ध की शिक्षा की स्थापना के प्रचलन का अभाव था। चिरकाल से दुर्व्यसनग्रस्त प्रौढ़ पुरुषों में द्रुतगति से शब्द-संदेश फैलाकर संख्या वृद्धि का अदूर-दर्शी प्रलोभन था। इस प्रकार की भीमकाय किन्तु पोली इमारत का पहली ही वर्षा ऋतु से ढेर होने लगना स्वाभाविक था।

जो द्विज, विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय, बुद्ध के विश्वप्रेम, प्राणिमात्र के प्रति दया के संदेश से दो दिन पूर्व वेद, ईश्वर और देवताओं के लिये प्राणियों के मांस को हवि में देकर उस हवि शेष के स्वाद मे ग्रस्त थे, वे बुद्ध के सत्य संदेश, भावुक भाषा, प्रेममय आह्वान से द्रवित हो गये। आत्मग्लानि ने अस्थिर क्रान्ति को मूर्त कर दिया और वे बौद्ध प्रवाह में बह निकले। बुद्ध के ओजस्वी संदेश से वे कुछ काल के लिये अपने चिर अभ्यस्त दुर्व्यसनों को लात मारकर भाग खड़े हुये।

जिसके हर ऋतु के लिये भिन्न भिन्न महल थे, समृद्ध सेठ का 'यश' नाम का ऐसा विलास-प्रिय युवक पुत्र बुद्ध का शिष्य बना। बुद्ध को उरवेला जाने पर बिल्वकाश्यप, नदीकाश्यप तथा गय-काश्यप नाम के तीन विद्वान कर्मकण्डी (याज्ञिक) मिले जो यज्ञ के बलिदानों व उस आडम्बर पूर्ण ढोंगी यज्ञ–याग के प्रमुख थे। अपनी चिर अभ्यस्त प्रथा व व्यसनों को भुलाकर बुद्ध के साथ हो लिये। यज्ञ–याग, बलि-दान, आडम्बर और ढोंगी कर्म-काण्ड के कारण पीढ़ियों से जिनका स्वभाव इन कर्मों का व्यसनी बन चुका था ऐसे अनेकों नागरिक हृदय की क्षणिक भावुकता से द्रवित होकर बौद्ध उपासक (बुद्ध के गृहस्थ अनुयायी) बन गये। बुद्ध की स्त्री ने अपने पुत्र राहुल को कहा कि

'वह तुम्हारे पिता हैं, जाओ उनसे पित्र-दाय मांगो। कुमार राहुल के पित्र-दाय मांगने पर बुद्ध ने उसे भी संन्यासी (भिक्षु) बना डाला। यद्‌यपि वह इसका हृदय से इच्छुक न था। और न उसने बुद्ध के पश्चात् तथागत (बुद्ध) के स्थान की पूर्ति की। वह बुद्ध के शिष्य आनन्द की निष्ठा को भो न पहुंच सका।

अल्पायु अनुरुद्ध अपनी मां से भिक्खु बनने की अनुमति लेने लगा। मां ने कहा कि यदि राजा भद्दिय (भद्रक) भिक्खु हो जाय तो तू भी संसार त्यागी हो जाना। निदान दोनों भिक्षु हो गये। आनन्द, भृगु, देवदत्त, किंबिल और उपालि कप्पक (नाई) भी भिखु बने। उमंग की लहर का प्रभाव इतने वेग पर था कि सावत्थी के सुदत्त अनाथपिण्डक धन कुबेर ने उमंग के प्रवाह में बुद्ध के विहार के लिये बाग की समस्त भूमि पर स्वर्णमुद्रा बिछा कर राजकुमार जेत से उसका जेतवन नाम का आराम (बागीचा) बौद्ध विहार के लिये खरीदा।

बुद्ध की सौतेली माता प्रजावती तथा बुद्ध-पत्नी यशोधरा अनेक शाक्य स्त्रियों के सहित बुद्ध की शिष्या होकर भिक्खुनी बन गई। सुकुमार जीवन व्यतीत करने वाली मगध देश की रानी खेमा (क्षेमी), कोशल नरेश प्रसेनजित की बुआ सुमना, शाकल नगर की विदुषी ब्राह्मण पुत्रियें भद्दा (भद्रा) और कापिलानी उस भावुक उमंग में सरल, सच्चे और सीधे जीवन के प्रचारक बुद्ध की शिष्यायें बनकर कठोर पवज्जा (प्रव्रज्या, संन्यास) धर्म की तापस साधना में दीक्षित हो गईं।

संख्या वृद्धि के प्रलोभन ने जोर मारा तो बौद्ध चिकित्सक चिकित्सा के प्रलोभन से अपने पंथ की जनसंख्या वृद्धि करने लगे। धर्म की

मौलिकता, श्रेष्ठता अथवा नवीनता से आकर्षित होने की अपेक्षा सुविख्यात वैद्य जीवन कोमार भच्च (कुमार भृत्य) की चिकित्सा के प्रलोभन से अनेक रोगी बौद्ध संघ में आने लगे जिस दुष्प्रवृत्ति को बुद्ध को रोकना पड़ा।

जिस प्रकार राजपूताने के अनेक राजा स्वामी दयानन्द द्वारा उद्घोषित वैदिक सिद्धान्तों, सदाचार, यमनियमों में श्रद्धा रखने की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व के अधिक पुजारी थे, जो ऋषि के निर्वाण प्राप्त करते ही अपनी परम्परागत कुत्सित जीर्ण रस्सी को पुनः जा चिपटे। उसी प्रकार प्राणीमात्र के प्रति दया, आडम्बरयुक्त ढोंगी यज्ञों में मूक पशुओं की हत्या के प्रति ग्लानि, सरल, सच्चे और सीधे जीवन की साधना आदि बुद्धि की शिक्षाओं की अपेक्षा उस समय के अग्रणी, प्रतिष्ठित व सम्पन्न लोग बुद्ध के व्यक्तित्व के अधिक पुजारी थे।

इस पूजा की धुन में हम बेसाली नगर की अम्बपाली वेश्या को मस्त हुआ पाते हैं, जिसकी बगीची में तथा-गत (बुद्ध) ठहरे थे। अम्बपाली ने भिक्खुसंघ सहित बुद्ध को भोजन का न्यौता दे दिया। अम्बपाली वेश्या को तथागत के अहिंसामय उपदेश, सरल रूक्ष जीवन के सिद्धान्तों से उतना प्रेम नहीं था जितना अपने पाप की कमाई के धन से बुद्ध को ज्योनार देने का। उसी व्यक्तित्व की श्रद्धा से द्रवित होकर सुकुमार व विलासप्रिय जीवन व्यतीत करने वाली वह वेश्या भिक्खुनी बन गई। यद्यपि इस भिक्खु भिक्खुनी समुदाय ने संख्या और कलेवर वृद्धि में अतीव द्रुत गति से आशातीत सफलता प्राप्त की, किन्तु हम इसकी आधारशिला में आरम्भ से ही अनेक विरोधी स्थितियां पाते हैं जो नियम विरोधी, अभ्यासविरोधी तथा स्वभावविरोधी हैं।

एक ओर पीढ़ियों से ईश्वर, देवताओं और वेदों के नाम पर यज्ञों में भून भून कर मांस चखने वाले होता और यजमान (ब्राह्मण और क्षत्रिय) हैं जो बुद्ध के व्यक्तित्व तथा ओजस्वी उपदेशों में मुग्ध होकर नूतन प्रवाह में बह निकले हैं । दूसरी ओर है उनका सुकुमार यौवनोन्मत्त पुत्र जो ज्ञान, वैराग्य और तप (संयम) के अभ्यास के अभाव में मार (कामनाओं) पर मार (क़ाबू) पाने में असमर्थ है। युवावस्था में पितृ–दाय मांगता हुआ प्रव्रज्या (संन्यास) से अलंकृत किया गया है। एक ओर हम सुकुमार जीवन व्यतीत करने वाली अनेक राजमर्हिषियों को इस कठोर प्रव्रज्य आश्रम में अनायास ही (शनैः शनैः नहीं) प्रविष्ट हुआ पाते हैं, तो दूसरी ओर प्रत्येक पुष्प का रस लेने वाली भ्रमरी के समान सुकुमार विलासिनी अम्बपाली वेश्या को भी सन्यास पन्थ में बहती हुई देखते हैं । देवदत्त के समान कपटी भी भिक्खुसंघ के अग बनकर फूट का बीज बोने वाले आ मिले थे। इससे प्रकट होता है कि बौद्ध विहारों का भिक्खू जीवन कुछ विशेष कठोर न था तभी तो देवदत्त जैसे कपटी भी दौड़ पड़े, क्योंकि कपटी मनुष्य सुख-सुविधा–विहीन किसी तापस जीवन की ओर आकृष्ट नहीं होता।

बुद्ध ने मानवजाति के शिशुओं में सरल सच्चे जीवन की स्थापना (जो बालकों के लिये पूर्व से ही सिद्ध तथा भविष्य के लिये सहज सम्भव व प्राकृत थी) करने की अपेक्षा प्रौढ़ पुरुषों को भिक्खु बनाकर पके हुये प्रौढ़ वृक्षों को ही मोड़ने का विधान बनाया जो सर्वथा नियम, स्वभाव व अभ्यास विरोधी था। अतः बौद्धों ने भिक्खुओं द्वारा संसार में शब्द-संदेश दिया उसकी स्थापना नहीं की। परिणाम यह हुआ कि दलबन्दी के आधार पर बुद्ध के मानने वालों, उसके व्यक्तित्व के उसके

संघ के पुजारियों की संख्या भयंकर रूप से बढ़ने लगी और बुद्ध की शिक्षा केवल "वाणी" और "पुस्तक" का शृंगार रह गई।

कुसिनारा के मल्लों ने बुद्ध के शरीर का दाह करके उनको अस्थि-अवशेष को भालों, धनुषों से घेर कर सात दिन तक नाच गान से सत्कार किया। फिर उस राख के आठ भाग बांट कर उन पर स्तूप बने। बुद्ध की शिक्षाओं के वाणी का शृंगार मात्र बन जाने पर पुरोहित और यजमानों को निर्वासित मांस भक्षण की वृति लौट आई। मनुष्य का क्रान्तिकारी मस्तिष्क खण्डन को अधिक ग्रहण करता है। अतः बुद्ध द्वारा खण्डित-यज्ञ प्रथा न लौट सकी। पुराने व्यसन के कारण मांस-भक्षण चोरी से, फिर कुछ प्रकट, तत्पश्चात् वैध माना जाने लगा और यज्ञों में अग्नि में डालकर मांसरूपी संपत्ति को व्यर्थ नष्ट करना ही "हिंसा" माना गया। बौद्धों की व्यसन ग्रस्त बुद्धि ने बुद्ध की प्राणी मात्र पर दया रूपी अहिंसा का विचित्र दार्शनिक भाष्य किया और तभी से शरीरपोषण जैसे उपयोगी कार्य के लिये मांसभक्षण में "हिंसा" नहीं मानी जाती। इस प्रकार दुर्व्यसनग्रस्त बौद्ध, धर्म के मौलिक नियमों में अनभ्यस्त वयोवृद्ध भिक्षुक बौद्ध-धर्म के विकृत रूप को देशान्तरों में ले गये, जहां इसकी संख्यावृद्धि, संघ प्रसार (जो बुद्ध के व्यक्तित्व की पूजा का रूपान्तर मात्र थी) ही अभीष्ट माना गया। इस प्रकार गणना वृद्धि के प्रलोभन ने उन देशस्थ रूढ़ियों तथा दुर्व्यसनों को उदारता से जीवित रह कर मिश्रित रहने दिया। चीन की राजकन्या तिब्बत के राजा से विवाही गई। राज-कन्या बौद्ध थी, अपने साथ बौद्ध धर्म लाई। उसका धर्म भी व्यक्तित्व की पूजा, संघ-प्रसार व संख्यावृद्धि से कुछ भिन्न न था। केवल नैमित्तिक कृत्यों के साथ साथ एक पन्थ को स्वीकार करना था। उसी

तिब्बत में राज कन्या के बौद्ध धर्म के अनुयायी प्राणी मात्र पर दया करने वाले बुद्ध की पूजा करके गाय, बैल व अन्य पशुओं के बच्चे व मुर्दा मांस, मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होने वाले जूं नामक जन्तु तक को खा जाने वाले आज भी बौद्ध हैं।

इस प्रवृत्ति के कारण बौद्धों में इतनी संकीर्णता आगई थी कि उन्होंने बुद्ध के जीवनोपयोगी आदर्श को पीछे हटा कर व्यक्तित्व की पूजा, बोधि वृक्ष की पूजा, संघ (दल बन्दी) की पूजा को पूज्य स्थान दिया और जीवन का प्राण सत्य पीछे नाम मात्र के लिये रख लिया। उनके नाम जपन (सुमरन) में "बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, सत्यं शरणं गच्छामि" में प्रथम "बुद्ध" तत्पश्चात "संघ" (दल बन्दी) और अन्त में विचारा "सत्य" था।

बुद्ध अमूर्त हो चुके थे। उनके तपस्वी, ऋत, आदर्श जोवन का आकर्षण अप्रत्यक्ष था। यही एक आकर्षण की वस्तु थी जिसने व्यक्तित्व की पूजा के लिये भक्तों को अनुसरण से अधिक आकृष्ट किया था। बुद्ध के अनुयायियों, भक्तों तथा उत्तराधिकारियों में उस जोवन का, उस तेज का, उस चरित्र का नितान्त अभाव था। अब उनके लिये एक मात्र अवलम्बन था कि वे बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अनेक कल्पित, अलौकिक, चमत्कारपूर्ण कहानियों की रचना करके नये नये व्यक्तियों को उनका रसिया बनाकर बौद्ध संघ में जोड़ते जांय जिससें मानव-समाज का अधिक से अधिक भाग "बुद्धं शरणं गच्छामि" में मस्त होकर उनका यजमान बन जाये। ठीक इसी प्रकार "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम' के रूढ़ हो जाने की भी सभावना है।

इसी प्रकार ईसा, मुहम्मद की पवित्र शिक्षाओं को उनके उत्तराधि-

कारियों ने कलुषित किया। उक्त महापुरुषों के अलौकिक व्यक्तित्व के अप्रत्यक्ष हो जाने पर संयमहीन, अप्रतिम व्यक्तित्व वाले उत्तराधिकारियों ने आकर्षण का कोई साधन न पाकर अपने महाराज के व्यक्तित्व की पूजा- प्रसार के लिये चमत्कार पूर्ण कहानियों की रचना के घृणित कार्य को आश्रय बनाया और उन महापुरुषों के प्राकृत संदेश को "वाणी" के शृंगार में बांध दिया।

वैसा ही प्रयत्न ऋषि दयानन्द के हम उत्तराधिकारियों का चल रहा है। जो कल तक तम्बाकू को धुआं-धार करता था वह आज, "भारत का उद्धार हो, वैदिक जीवन की छटा पूर्व से पश्चिम तक मूर्त हो जावे, गौतम, कणादि जैसे ऋषियों का बाहुल्य देश में सब ओर हो जावे," इस आकाशी कल्पना की उमंग में लोगों की चिलमों को तोड़ने लगता है किन्तु उस उमंग, उस महत्त्वाकांक्षा के उल्लास के कुछ जीर्ण होने पर वही सुधार–उत्सुक अपने पूर्व व्यसन के स्मरण से अपनी सिगरटों को लुके छिपे ढूंढने व उनका रसास्वादन करने लग जाता है और फिर "दयानन्द ऐसे महात्मा थे, स्वामी जी यों कहते हैं; सत्यार्थ प्रकाश में यह लिखा है" आदि प्रलाप ही "आर्यत्व" का चिन्ह बन जाते हैं और यही व्यक्तित्व की पूजा तथा वाणी का शृंगार है।

जो आर्य समाज के मंत्री और प्रधान पद तक पहुंच चुके हैं, उनके घरों में भी पौराणिक कृत्य चल रहे हैं। स्त्रियां श्रद्धा से किंवा बड़ी बूढ़ी स्त्रियों के लिहाज़ से पौराणिक, अवैदिक कृतियों को मनाही लेती हैं। हम आर्य मन्दिर में आदर्श और दार्शनिकता का मथन करके अपने अन्तःपुर की इन रूढ़ियों से तटस्थ अथवा उदासीन रहते हैं और मृतक श्राद्ध जैसे हास्यास्पद तथा लज्जाजनक कृत्य हो जाते हैं। हमारी गृह-देवियां भी हमें किसी वैदिक कृत्य में रत न पाकर भ्रान्ति के सम्मुख हो

अपनी श्रद्धाञ्जली समर्पित कर देती है। यह सब विकार क्यों है ? क्योंकि हमने अर्द्ध शताब्दी, पूरे पचास वर्षों में भी ऋषि दयानन्द के संदेश को अपनी समाज के शिशु-जीवन में स्थापित नहीं किया। केवल ग्रामोफोन के समान शब्द सन्देश-सुनाते रहे।

क्रान्तिप्रिय युग ने ऋषि दयानन्द के खण्डन का स्वागत किया। चिरकाल के अनभ्यास ने ऋषि के मण्डन को हमारे जीवन का अंग न बनने दिया। यम तो क्या हम पंच नियमों में भी न रंगे जा सके।

बौद्ध के खण्ड ने, यग-याज्ञ के अविधान ने बौद्धों के हृदयों को वीरान श्मशान बना डाला था क्योंकि अनभ्यास, तत्कालीन दुर्व्यसनों तथा असयम ने हृदयों को सदाचार, ऋत सोपान से प्लावित न होने दिया। मानव हृदय अधिक काल तक नीरवता में नहीं रह सकता। खण्डन के प्रहारों से क्लांत बौद्ध हृदय ऋत सोपान को न पाकार भ्रान्त श्रद्धा की ओर द्रवित हो पड़ा। **जो भ्रान्त श्रद्धा वैदिक देवताओं के कृत्रिम चमत्कारों से मोहित होकर असुर-कर्म करा रही थी वही खण्डन से आक्रान्त बौद्ध हृदय की मसीहा बनी।**

आज वही रोग और वे ही उसके चिन्ह हम पर प्रकट होने लगे हैं, हमारा हृदय श्रद्धा को ढूंढ रहा है। यदि उसे प्राकृत जीवन के अभ्यास से श्रद्धामय न बनाया गया तो वह हठात् पौराणिक अन्ध श्रद्धा के समान भ्रान्त व्यक्तित्व की पूजा में वह निकलेगा, इसलिये आवश्यक है कि हमारे प्रचारकों का जीवन, वेदों का प्रचार व प्रसार प्राकृत हो और यह सब आर्षकुल से सम्भव हो सकता है। कृत्रिम विधान का कोई भी आविष्कार इसे सफल न कर सकेगा।

(ख) आर्ष कुल की रूप-रेखा

गुरुकुल एक बड़ा परिवार हो जिसमें वानप्रस्थ स्त्री-पुरुष, ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी, विधवा, बालक व बालिकायें (अनाथ बालक बालिकायें भी यदि वे गुरुकुल के आदर्श के योग्य हों) उसके सदस्य (Members) हों जिस प्रकार कुटुम्ब में किसी को वेतन नहीं मिलता, उसी प्रकार इस में कोई वेतन भोगी न हों।

पहिला भाग

१० वर्ष तक की आयु के बालक बालिकाओं को स्त्रियें ही पढ़ावें तथा १० वर्ष तक के बालक बालिकाओं के लिये एक सम्मिलित विद्यालय हो जिसमें स्त्री ही पढ़ाने का कार्य करें।

आश्रम (Boarding)

१० वर्ष तक की आयु के बालक, बालकों के छात्रवास (Boarding) में रहें तथा १० वर्ष तक की बालिकायें कन्याछात्रवास (Girl Boarding House) में रहें। दोनों प्रकार के छात्रवासों की अधिष्ठात्री (Lady-superintendent) वानप्रस्थ स्त्रियें वा विधवा हों गृहस्थ स्त्रियें कदापि नहीं।

प्रातः काल का संध्या हवन बालकों के छात्रावास में तथा सांयकाल का संध्या हवन कन्या छात्रावास में हुवा करे।

गुरुकुल में वे ही दम्पति रहने पावें जिन में पुरुष अधिक विद्वान हों अर्थात ऐसे दम्पती न रहने पावें जिनमें स्त्री अधिक विदुषी और पुरुष कम विद्वान् हों, क्योंकि पत्नि के पति से अधिक विदुषी होने से भविष्य में गुरुकुल की कौटुम्बिक व्यवस्था में दोष आजावेगा।

अनुपात

यदि १० वर्ष तक की आयु के ६० बालक तथा ४० बालिका हों तो इन १०० छात्र- छात्राओं की शिक्षा, पालन पोषण, संरक्षण तथा प्रबन्ध के लिये २० पुरुष और २५ स्त्रियें हों। इनसे न्यून कभी न हों ।

भोजन

शाम को किसी को भोजन न दिया जावे, केवल धारोष्ण दूध दिया जावे। बालक बालिकाओं को प्रात:काल जल पान में धारोष्ण दूध, दही, छाछ आदि वस्तुओं में से कोई एक वस्तु मिले। दोपहर को भोजन तीसरे पहर फल, जौ, चावल, मूंग, शाक, घी, मक्खन भोजन का अंश हों। स्त्रियें व बालिकायें भोजन भंडार का काम करें। उपर्युक्त १४५ प्राणियों के लिये इतनी गौ होनी चाहिये कि जिनसे नित्य प्रति ७ मन दूध प्राप्त हो जाया करे।

पुरुष वर्ग तथा बालक वर्ग गौ चराते समय भी पढ़ाया करें अर्थात गौ चराना दैनिक कर्म हो। स्त्रियें व कन्यायें भी गो चरावें।

वस्त्र

सृष्टि आदि में अग्नि आदि ऋषि, ब्रह्माजी, या बाबा आदम जो कुछ भी कहो नंगे ही उत्पन्न हुये थे और नंगे ही रहे। शायद यह क्रम ऋषियों में सदियों तक रहा हो, क्योंकि वेदों का ज्ञान वेदों के नाज़िल होते ही नहीं फट पड़ा था। सदियों में ऋषियों ने वेदार्थ किया होगा। वेदार्थ केवल विचार ज्ञान (Theory) था, उसे क्रियात्मक रूप देने में सदियें लगी होंगी, क्योंकि न साधनों का पता था न क्रियात्मक अनुभव।

वस्त्रों की मनुष्य के लिये आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान ने मानव

काया में कुछ भी, लिग, योनि, गुदा तक अश्लील नहीं बनाये। नंगा बालक किसी को अश्लील नहीं मालूम होता। पशु नंगे ही सुन्दर लगते हैं। सर्दी गर्मी का सहन करना अभ्यास पर निर्भर है। मनुष्य जेठ की लुओं में, श्रावण की झड़ी में, पूष की सर्दी में भी अभ्यास से नंगा रहता है और दूसरी ओर का अभ्यास १० सेर सूती कपड़ों में हाड़ को कंपाया करता है। नग्न शरीर वस्त्रधारी से अधिक स्वस्थ रहता है। सूट बूट धारियों के लिये धोतीवाले, धातीवालों के लिये लंगोटबंद और लगोटबंदों के लिये नग्न असभ्य, कुरूप और बौड़म हैं। यह हजारों वर्षों का हमारी आंखों का अभ्यास है। पर्दा पंथ की शरीफ बहु को घूंघट उघड़ जाने से जितनी लज्जा होती है, उतनी लज्जा हमें नंगा हो जाने से होती है। यह समाज के अपने अपने कानून हैं। आंखें चिर अभ्यास से लाचार होगई हैं। १०० वर्ष पहिले जो अंगरखे बड़े सुन्दर लगते थे, आज उनके पहनने से हमारा हुलिया भद्दा दिखाई देने लगता है। यह आंखों का परिवर्तित शौक है। स्त्री केशविन्यास और वस्त्रालंकार के शृंगार से विशेष चित्ताकर्षक हो जाती है, वैसे ही पुरूष भी। यह शृंगार ही व्यभिचार का सब से बड़ा कारण है। केशविन्यास बखेर देने पर वस्त्रविहीना परम रूपवती स्त्री भी भद्दी, अरुचिकर, दिखाई पड़ेगी। आर्ष काल में व बौद्धकाल तक पुरुष घुटने तक की धोती व पटका बांधते थे, शेष नंगे। शीतकाल में कम्बल ओढ़ते थे।

वानप्रस्थ स्त्री–१ गज़ पनहे का २॥ गज का टुकड़ा धोती के लिये, १२ गिरह पनहे का २॥ गज का टुकड़ा छाती के ऊपर बांधने को अंगोछा। सिर के बाल सिक्खों की तरह बांधें। तैल, ज़ेवर

चूड़ियां कुछ नहीं।

वानप्रस्थ पुरुष—लंगोट व अंगोछा।

गृहस्थ स्त्री—१ गज़ पनहे की तीन गज़ लांबी धोती (केवल कटि से नीचे) १॥ गज छाती के ऊपर बांधने का पटका। सिर नंगा। धोती श्वेत या केशरिया। पुष्पों के आभूपण, सरसों का तैल या घृत सिर में डालें। केवल मस्तक पर मांग निकालें।

गृहस्थ पुरुष—एक गज़ पनहे की ३ गज लंबी धोती। १॥ गज़ का पटका। अंगोछा। साप्ताहिक दक्षिणी ब्राह्मणों के समान क्षौर या सिक्खों के समान केश रखें। शीत ऋतु में गरम बगलबंदी या कम्बल।

ब्रह्मचारी लंगोटबन्द रहें। ब्रह्मचारिणी युवावस्था को प्राप्त होने से पहिले कछ (बिना पामाचों का पजामा) व युवावस्था (१२, १३ वर्ष की आयु के बाद) कछ के ऊपर १२ गिरह पनहे २॥ गज़ लम्बी धोती व स्तनों के लिये पटका। ब्रह्मचारियों, ब्रह्मचारिणियों के पीत वस्त्र हों।

कोई भी स्त्री सुई से सिला कपड़ा न पहनें।

ग्रीष्म ऋतु में चटाई भूमि पर बिछा कर सोवें।

ओढ़ने को चादर वा कम्बल। शीत ऋतु में आवश्यकतानुसार कम्बल आदि।

मीठा

गुड, खांड, शक्कर आदि का उपयोग कदाचित न हो, ये वस्तुये मद्य के समान वर्जित हों।

मीठी वस्तुओं में मीठे फल, गन्ना (Sugar cane) खजूर,

किशमिश, दाख, मुनक्का, मधु (Honey) ही का उपयोग हो।

लवण

सेंधा नमक उपयोग में लाया जावे किन्तु अति न्यून। गेहूं, उर्द का उपयोग न हो। मिर्च, तैल, हर प्रकार की अम्ल खटाई वर्जित रहे।

अम्ल

आमला और अनार को छोड़ शेष सर्व वर्जित। सप्ताह में लवण (Salt) केवल ४ दिन ही दिया जावे। दो दिन अलूना (Without salt) तथा एक दिन प्राकृतिक भोजन अर्थात् भौतिक अग्नि से न पकाये हुये कच्चे चने, कच्चे शाक, फल आदि।

कर्मचारी सम्बन्ध

"कुल" के समस्त कर्मचारी आपस में एक दूसरे को भ्राता, वन्धु, काका, दादा, पुत्र आदि सम्बोधनों से पुकारें, स्त्रियों को बहन जी व माता जी शब्दों से। स्त्रियें भी पुरुषों को भ्राता, वृद्धों को काका, गुरु, पिता, दादा आदि सम्बोधनों से पुकारें। निरक्षर (जो साक्षर न हों) वे भी गुरुकुल में रह कर शारीरिक श्रम करें, सेवाकार्य करें। वस्तु भण्डार (Store) स्त्रियों के हाथ में हो।

मकान (Building)

छात्रावास (Boarding)

फूंस की लम्बी हवादार बैठकें। सरकंडे वा बांस की दीवारें। गोमय व पीली मिट्टी से लिपा फ़र्श।

विद्यालय

वट, पिलखन वा पीपल के वृक्ष की छाया, छात्रावास गोचर

भूमि व खेत। वृक्ष के नीचे छप्पर सहित कच्ची यज्ञशाला।

पात्र

पकाने के तमाम भांडे मिट्टी के तथा अन्यान्य लकड़ी के। भोजन के लिये केले आदि के पत्ते वा हाथ।

छात्रावास से बचे वानप्रस्थ स्त्री पुरुष वानप्रस्थ आश्रम में रहेंगे। अर्थात् दो बैठक अलग बनी होंगी। एक कन्या छात्रावास के पास। दूसरी भण्डार के पास। कन्या छात्रावास वाली बैठक की कोठरियों में वानप्रस्थ स्त्रियें। तथा भण्डार के पास वाली बैठक की कोठरियों में वानप्रस्थ पुरुष रहें। युवती विधवायें कन्याओं के छात्रावास में हो रहें।

दिनचर्या

बालक बालिका

ग्रीष्म ऋतु ८ बजे रात्रि को सो कर प्रातः साढ़े चार उठें।

गृहस्थ

गृहस्थ १० बजे सोकर ४ बजे उठें।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ १० बजे सोकर ३ बजे बजे उठें।

सूचना—४० वर्ष से कम आयु के विधुर व विधवा अनिवार्य रूप से कच्चे अन्न शाक फल अर्थात् प्राकृत अन्न खावें, अन्यथा गुरुकुल में न रहने पावें। विधुर वानप्रस्थ पुरुषों में रहें

वानप्रस्थ ३ बजे से साढ़े चार बजे तक शौचनिवृत होकर उपासना करें। पश्चात् छात्रों को सभालें व कार्य करावें। गृहस्थ सूर्योदय के आधा घन्टा बाद तक शौच, संध्या व अग्निहोत्र से निवृत्त

होकर छात्रावास के अग्निहोत्र में सम्मिलित हो जावें। छात्रावास के हवन में सबको सम्मिलित होना अनिवार्य हो। साथ ही प्रत्येक गृहस्थ, वानप्रस्थ स्त्री पुरुष को स्वकुटीर पर भी सायं प्रातःकाल अग्नि-होत्र करना अनिवार्य हो।

अग्नि होत्र के पश्चात दूध पीकर गौवों को चराने चले जावें तथा गुरुओं के साथ वहीं पढ़ें। १२ बजे भोजन को लाटें, शाम को पुनः गोचर कार्य करें। बारी बारी से खेतो के कार्य में लगें। प्रत्येक स्त्री-पुरुष बालक-बालिका प्रति दिन २ घंटे कृषि कार्य करें।

प्रत्येक गृहस्थ स्त्री पुरुष, वानप्रस्थ स्त्री पुरुष, बालक, बालकायें प्रति दिन प्रातः सूर्य भेदन व्यायाम करें। व्यायाम का समय संन्ध्या से सांयकाल अग्नि होत्र के पश्चात् सब पृथक् पृथक् जाकर भगवद् पूर्व भजन करें।

प्रत्येक वानप्रस्थ व गृहस्थ स्त्रो पुरुष को गुरुकुल में आने के ६ मास पश्चात् नमक खाना छोड़ देना होगा तथा १ वर्ष बाद भौतिक अग्नि से पकाये पदार्थ छोड़ देने होंगे।

संध्या को सब को यथेष्ट धारोष्ण दूध मिले। जिन वानप्रस्थों ने नमक भौतिक अग्नि से पकाये भोजनों का खाना नहीं छोड़ा है, वे सांयकाल को दूध पीकर केवल निरहार रहें।

सध्योपरान्त आश्रम में कथा हो, जिसमें सब वानप्रस्थ व गृहस्थ स्त्री पुरुष सम्मलित हों।

शिक्षा

संस्कृत, गणित, आर्य भाषा केवल तीन ही विषय पढ़ाये जावें शेष जो कुछ पढ़ाना हो मौखिक पढ़ाया जावे। कोई वार्षिक परीक्षा न हो।

बालक बालिकाओं को किसो प्रकार के शिल्प की शिक्षा न दी जावे ।

धर्म शिक्षा

यम नियमों का पालन स्वाभाविक बना दिया जावे, शेष धर्म की बातें कथा रूप में रोचक करके समझाई जावें ।

सारल्य

प्रत्येक स्त्री पुरुष हृदय से बिलकुल निष्कपट रहें । इस कुल में आने वाला प्रत्येक गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ स्त्री पुरुष इस "कुल" कुटुम्ब का सदस्य होते समय सब के सामनें व्रत करें—

"ईश्वर को शाक्षी करके कहता हूँ कि मैं इस "कुल" में स्वयं बनने और बनाने आया हूँ, आजिविका ढूंढनें, पेट पालने वा भोगों के लिये नहीं आया । मैं व्रत करता हूं कि मेरे हृदय में जो भी कुभावना होगी उसे नि:संकोच आपके सामने रख दूंगा और जो प्रायश्चित्त आप बतायेंगे उसे सहर्ष पूरा करूंगा । अन्यथा कुल छोड़ कर चला जाऊंगा ।"

दूसरा भाग

गुरुकुल में भाग (Division) आयु के अनुसार हों न कि श्रेणी के अनुसार । दूसरे भाग में १० वर्ष से ऊपर तथा १४ वर्ष से कम आयु के ब्रह्मचारी तथा १० वर्ष से अधिक व १४ वर्ष से कम आयु की ब्रह्मचारिणी हों ।

इस विभाग के ब्रह्मचारियों के अधिष्ठाता पुरुष हों तथा ब्रह्मचारिणीयों की स्त्रियां । इस विभाग के बालक छात्रावास में कोई भी किसी भी आयु की ब्रह्मचारिणी न आने पावें । ३० वर्ष आयु से कम की सधवा वा विधवा स्त्री भी इस विभाग में दर्शक रूप से भी न आने पावें ।

इस भाग की ब्रह्मचारिणीयों के छात्रवास में १० वर्ष से अधिक व ४०

वर्ष से कम आयु का कोई भी पुरुष न जाने पावे।

यदि इस विभाग में ५० ब्रह्मचारी और ५० ब्रह्मचारिणी हों तो उन की शिक्षा, पालन पोषण, संरक्षण व प्रबन्ध के लिये १५ पुरुष और १५ स्त्रियें हों ब्रह्मचारियों को पुरुष तथा ब्रह्मचारिणीयों को स्त्रियें पढ़ावें।

भोजन भंडार

भोजन भण्डार यहां भी स्त्रियों के ही हाथ में रहे। किन्तु ३० वर्ष से कम आयु की स्त्रियें तथा ४० वर्ष की आयु से कम के पुरुष इस भोजन भण्डार में भोजन प्रबन्ध वा भोजन खाने न आवें, वे पहले भाग में कार्य करें। स्त्रियें व कन्यायें भोजन सिद्ध करें। ११ बजे कन्यायें भोजन करके चली जावें। १२ बजे ब्रह्मचारी भोजन करने आवें। कन्याओं को स्त्रियें तथा ब्रह्मचारियों को पुरुष भोजन करावें, इत्यादि।

सप्ताह में ३ दिन नमक, २ दिन अलूना, २ दिन प्राकृतिक भोन खावें।

शिक्षा

ब्रह्मचारियों व ब्रह्मचारिणीयों को १३ वर्ष की आयु से औषधी बनाने का काम सिखाना आरम्भ कर दिया जावे।

संस्कृत, गणित, आर्य भाषा, विज्ञान और भूगोल पढ़ाया जावे। धर्म शिक्षा, भूगोल, आर्य भाषा मौखिक हो। शेष लेखन आदि यथा वार चलें, जैसे पहले भाग में।

कन्याओं को संगीत ११ वर्ष की आयु से आरम्भ करा दिया जावे। कन्यायें, वाटिका, गोपालन, गोदोहन आदि कार्य स्त्रियों के साथ करें। पुरुष व ब्रह्मचारी कृषि तथा गोचराना आदि।

तीसरा भाग

इस भाग में १४ वर्ष से १७ वर्ष तक की कन्यायें तथा १४ वर्ष से १८ वर्ष तक के ब्रह्मचारी हों। कन्याओं की अधिष्ठात्री स्त्रियें तथा ब्रह्मचारिओं के अधिष्ठाता पुरुष हों।

इस विभाग के कन्या छात्रावास वा विद्यालय में १० वर्ष से अधिक तथा ५० वर्ष से कम आयु का पुरुष दर्शक न जाने पावे।

बालक छात्रावास में ४० वर्ष से कम आयु को कोई भी स्त्री बालिका न जाने पावे।

इस विभाग के भोजन भण्डार का कार्य स्त्रियों के ही हाथ में रहे। पहले कन्यायें, फिर ब्रह्मचारी भोजन करें। कन्याओं का वेष वही हो जो वानप्रस्थ स्त्रियों का हो। इस भण्डार में ४० वर्ष से कम आयु की स्त्री व ५० वर्ष से कम आयु का पुरुष न जाने पावे।

शिक्षा

संस्कृत, आर्य भाषा, विज्ञान, दर्शन, वेद, आयुर्वेद। कन्यायें संगीत, वाद्य भी सीखें। उपन्यास, कथा आदि तो क्या रामायण, महाभारत प्रभृति ग्रन्थ भी न पढ़ाये जावें।

अंगरेज़ी १४ वर्ष की आयु से पहले न पढ़ाई जावे।

धर्म शिक्षा

पंच महा यज्ञ विधि, आर्याभिविनय, सत्यार्थ प्रकाश ७ म ८ म, ९ म व १० म समुल्लास।

चौथा भाग

इस भाग में कन्यायें न हों अर्थात् कन्याओं का विद्याध्ययन १७ वर्ष की आयु में समाप्त कर दिया जावे। १७ वर्ष की आयु में कन्या यदि

गृहस्थ में प्रवेश करने की इच्छुक हो तो आचार्या के पास जाकर कहे कि मैं गृहस्थ की इच्छा करती हूं। तब आचार्या उसे एक वर्ष तक गृहस्थ शिक्षा देवे।

गृहस्थ शिक्षा

संस्कार विधि, रामायण, महाभारत, इतिहास, नीति-ग्रन्थ पढ़ाये जावें। गृहस्थ स्त्रियां भी इनको सख्य भाव से शिक्षा दें।

यदि १७ वर्ष की कन्या आगे विद्याध्ययन करना चाहे तो वह सिर के बाल कटवाकर स्त्री वानप्रस्थ आश्रममें योगाभ्यास करती हुई स्वाध्याय करे। ५५ वर्ष से अधिक आयु के वृद्ध विद्वान् से पढ़ भी लिया करे।

शृंगार

वानप्रस्थ स्त्रियें व ब्रह्मचारिणी बालिकायें सब सिर के बालों को सिर के ऊपर सिक्खों की तरह जूड़ा बनाकर बांधें, मांग न निकालें। गृहस्थ स्त्रियां केवल अपने बालों को पीछे डाल सकें, मांग वे भी न निकालने पावें।

१८ वर्ष की आयु से २२ वर्ष की आयु तक के ब्रह्मचारी अपना भोजन आप सिद्ध करें। इनके आश्रम आदि में कोई भी स्त्री जिसकी आयु ५५ साल से कम है, न जाने पावे।

शिक्षा— वेद, आयुर्वेद, संस्कृत, दर्शन पढ़ें।

सप्ताह में एक दिन अलूना पक्वान्न तथा शेष ६ दिन प्राकृत भोजन करें। पुरुष भी जो इनके अधिष्ठाता हों, गुरु हों, ऐसा ही भोजन करें।

पहले भाग से चौथे भाग तक के प्रत्येक गुरु, प्रबन्धक, अधिष्ठाता अपने छात्रों के साथ ही भोजन करें, पृथक् नहीं। गृहस्थ स्त्री पुरुष जिन विद्यार्थियों की देख रेख करें, वे वहीं भोजन करें।

२२ वर्ष की आयु के पश्चात् ब्रह्मचारी आचार्य के पास जावे। यदि वह गृहस्थ का इच्छुक हो तो गृहस्थ को. यदि विद्या का इच्छुक हो तो विद्याध्ययन की जिज्ञासा करे। आचार्य गृहस्थ के इच्छुक को दो वर्ष और पढ़ावें। रामायण, महाभारत, इतिहास, नीति सांसारिक व्यवहार की शिक्षा दें।

इन दो वर्षों में ब्रह्मचारी का भोजन प्राकृत हो।

यदि ब्रह्मचारी विवाह का इच्छुक न हो, तो योगाभ्यास करे तथा गौ चराकर एकान्त में रहे।

योगाभ्यास

प्राणायाम आदि का कन्या व ब्रह्मचारिओं को १५ वर्ष की आयु से ही अभ्यास आरम्भ करा देना चाहिये।

दाम्पत्य-जीवन

इस प्रकार के ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी का गुण कर्मानुसार विवाह करदें।

यह दम्पति किसी गांव में जाकर वैद्य, याज्ञिक, उपदेशक बन कर, वेद प्रचार करे। १० ग्राम अपने मण्डल (Circle) में घेर कर वहां बालकों को पढ़ाये, योग्य, सौम्य बालकों को उक्त गुरुकुल में भेजते रहें।

गुरुकुल के स्नातक—स्नातिका गृहस्थ बनकर भी प्राकृत भोजन करें। यदि वे इस नियम का कभी उल्लंघन करदें तो वे प्रायश्चित करें, या यदि इस नियम को तोड़ ही डालें तो पतित समझे जावें।

गुरुकुल में कोई वर्ण न हो, सब मनुष्य ही हों, हरिजन की सन्तान भी कुल कुटुम्बी हो।

प्रवेश-नियम

भारत में योग्य बालकों का अभाव नहीं है। निर्धन माता पिता के अनेक योग्य बालक हैं जो सरलता से ऐसे गुरुकुल के लिये मिल सकते हैं। इस के अतिरिक्त अनेक अनाथ बालक भी मिल सकते हैं।

बालक वा बालिका का पिता अस्तेय व अपरिग्रह के नियमों के अन्तर्गत नेक कमाई से कमाये धन से अच्छी दो गौ खरीद कर अथवा स्वयं पाल कर गुरुकुल में लावे। वेदारम्भ संस्कार के समय बालक का पिता वाम हस्त में गौओं की रस्सी पकड़ कर तथा दक्षिण हाथ अपने पुत्र के सिर पर रख कर निम्न वचन कहे :—

"हे विश्वाग्ने! मेरे हृदय में जो कुछ है और मैंने जो कुछ पाप पुण्य किया है, वह आप सब जानते हैं। हे यजनीय देव! आपकी कृपा से ही मैं आज इन विद्वानों के सामने आया हूं और निष्कपट होकर निवेदन करता हूं कि मैंने इन गौओं को अस्तेय का पूरा पूरा पालन करके प्राप्त किया है। इनके लिये भिक्षा भी मांगी है तो गरीब किसान से। धन भी कमाया है तो बालकों को पढ़ा कर, यज्ञ वा किसी की सेवा करके। पाप से धन कमाने वाले किसी धनवान से मैंने यह गऊयें दान में नहीं ली हैं, न उसके दिये धन से मोल ली हैं। मैंने इनको आरम्भ से ही स्वपरिश्रम से पाला है। अपने इस पुत्र के सिर पर हाथ रख कर कहता हूं कि मेरे पवित्र धन व परिश्रम से प्राप्त की हुई मेरी सुशील गौवें सोम हों। इन के दूध को पीकर आप और यह मेरा पुत्र आजीवन सदाचाररत तपस्वी त्यागी ब्राह्मण रहे।"

आयुर्वेद और चिकित्सा

गुरुकुलस्थ प्रत्येक व्यक्ति रोग में प्राकृतिक अथवा जल चिकित्सा करे। गुरुकुलस्थ प्रत्येक स्त्री पुरुष, बालक बालिका औषधि बनाना सीखे तथा योजक (Compounder) का कार्य सीखे। प्रत्येक शिक्षक आयुर्वेद पढ़े।

स्त्रियें स्त्री रोगों की चिकित्सा का विशेष अध्ययन करें। गुरुकुल के प्रत्येक स्नातक व स्नातिका को सत्त्वगुणप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा वेद के समान अनिवार्य दी जावे।

अवकाश के दिनों में वृद्ध तथा वृद्धायें ग्रामों में जाकर चिकित्सा करा करें। चिकित्सा प्रचार कार्य का अंग हो।

यात्रा और प्रचार

गुरुकुल भूमि से ६ मील दूर तक के ग्रामों में वृद्ध स्त्री पुरुष चिकित्सा, प्रचार करने जाया करें। ब्रह्मचारी भी साथ जावें किन्तु किसी भी परिस्थिति में ब्रह्मचारी व स्त्रियें सूर्यास्त तक बाहर न रहें, सूर्यास्त से पहले ही गुरुकुल में वापस आ जावें। ब्रह्मचारिणियें इस यात्रा में न जावें।

ग्राम प्रचार

ग्रामों में, स्वास्थ्य, सदाचार, स्वच्छता, कर्मकाण्ड (सन्ध्या, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव अतिथि आदि) का उपदेश दिया जावे। खण्डन, कटूक्ति, भर्त्सना का उपयोग न हो। भावुक भाषा में ही प्रेम प्रचार करें। प्रचारक मण्डल स्वयं ग्राम की गलियों, कूंचों, घरों की सफ़ाई करें। उनके कपड़े तक धोवें, मैला तक साफ़ करें, व्याख्यान नाममात्र दें।

गृहस्थ स्त्रियें इस प्रचार में न जावें।

रविवार, अमावस्या, पूर्णिमा, एकादशी विशेषतया इस प्रचार कार्य के लिये हों। चिकित्सा के लिये तो नित्य भ्रमण होना चाहिये। ग्रामवासियों से केवल खाद्य अन्न जो गुरुकुल में उपयोगी हों, भिक्षा में ग्रहण करें, उस अन्न का ग्राम में ही भण्डारा (भाज) कर देवें।

भोजन—क्रम

पहले बालक व रोगी, अतिथि, ब्रह्मचारिणी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, सेवक अन्त में कुलपति भोजन करे।

दान ग्रहण

अन्न, फल, सूत, खादी, रुई, कपास, चावल, मूंग, घृत, नमक हवन सामग्री, कच्ची औषधियें (त्रिफला सूंठादि) ऊन, तिल, मधु, आदि ही दान में लिये जावें। केवल किसान से ही धन (Money) लिया जा सके अर्थात किसान को छोड़ और किसी भी व्यवसायी से रुपया न लिया जावे। किसान से भी ५) से अधिक न लिये जावें। वे वैश्य जो हस्त शिल्प (Hand Industry) का व्यापार अर्थात हाथ की ही बनी वस्तुओं को बेचते हैं, तथा कच्चे माल के व्यापारी हैं उन से भी गुरुकुल की भूमि में ५) रु० से अधिक दान ग्रहण न किया जावे।

उपर्युक्त अन्न दान देते समय दानी को यह कहना अनिवार्य हो "इस अन्न धन में मेरे दश नाखूनों की पवित्र कमाई है, रिशवत (घूस) चोरी व अन्याय का अंश इसमें नहीं है।"

वकील, डाक्टर, वैद्य (जो फीस ले कर आजीविका कमाते हैं) का अन्न दान ग्रहण न किया जावे।

प्रदर्शन

गुरुकुल में दर्शकों का आना न होने दिया जावे। इस प्रवृति को रोका जावे। कुलपति सोच समझ कर अनुमति दें, किन्तु दर्शक गुरुकुल के दिये हुये वस्त्रों को पहन कर ही गुरुकुल में भ्रमण कर सकें।

खादी

कपास से रुई, रुई से सूत, सूत से वस्त्र गुरुकुल में तैयार हो।

दान

गुरुकुल में बनियापन न होवे। अपनी आवश्यकता से अधिक जो अन्न वस्त्र बच जावे, वह दान कर दिया जाया करे। गुरुकुल की कोई वस्तु बेची न जावे। दान कर देना ही अधिक पदार्थ (Excess material) की व्यवस्था हो।

उत्सव

उत्सव आठ दिन रहे। प्रभात फेरी में वानप्रस्थ स्त्री पुरुष जावें। आये हुये यात्रियों से अन्न की भिक्षा ग्रहण करें! यात्री केवल श्वेत खादी के वस्त्र पहन कर गुरुकुल भूमि में इस अवसर पर रहें। कोई भी दुकान गुरुकुल भूमि मे किसी वस्तु को न आने पावे।

यात्रियों के भोजन का प्रबन्ध गुरुकुल करे अर्थात सब सहभोजन करें।

उत्सव के इन दिनों में गुरुकुल के समस्त ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी " भवती भिक्षां देहि " द्वारा यात्रियों से " अन्न भिक्षा " लावें। इस अन्न भिक्षा से ही यात्रियों और गुरुकुल वासियों का भोजन बनें।

आर्ष कुलका स्थान।

वनमें नदीका तीर।

आजीविका

कुल कुटंबो (कुलपति, आचार्य, गुरुवर्ग तथा अन्यान्य कर्मचारी व ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी) खेती, गोपालन, सूत कातना खादी बुनना, कृषि—रसके लिये कुछ ऊख। फल (बागात) शाकादि। आटे के लिये जौ, गौ के हरे घास के लिये। जौ, मूंग, उर्द, शालिधान, चना, गेहूँ तथा गौ को औषधिरूप के लिये, सोआ, पालक, मेथी, ब्राह्मी, गोरखस तथा अन्यान्य औषधियें जिन्हें गौवें रुचिसे चरलें उनको खेती वा उन्हें गौचर भूमि में उत्पन्न करना।

गोपालन—कुलपति, आचार्य तथा वानप्रस्थ, गृहस्थ स्त्रियें ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणियों के साथ गौ चरायेंगे। इस कालमें कंठ करनेवाले मंत्रों, श्लोकों, गानविद्या, पहाड़े तथा अन्यान्य शिक्षा दी जावे। अध्यापनकार्य मनोरंजन के रूपमें हो। यहां पर क्रीडायें, कुश्तियें हों। गौवों के साथ क्रीड़ा करना तथा उन्हें वाद्य के सहारे बुलाना आदि।

सूत कातना, खादी बुनना—स्त्रियें सूत कातते व खादी बुनते समय गीत गान को महत्व दें। वानप्रस्थ स्त्रियां कातने व बुनने का कार्य गृहस्थ स्त्रियों से अलग करें। क्योंकि गृहस्थ स्त्रियों के मनोरंजन क्रीडामें शृंगार की वासना होगी।

क्रीड़ा

व्यायाम—स्त्री पुरुष, बालक, बालिकाओं के लिये अनिवार्य हो। स्त्रियोंके लिये आसन, सूर्यभेदन व्यायाम व तैरना अनिवार्य, शेष गौण।

ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणियों के लिये आसन, प्राणायाम, सूर्यभेदन व्यायाम, तैरना, मल्लयुद्ध, लाठी (गतका) बाण, तलवार, मुद्गर की हस्तलाघव

क्रियायें व नटकला सब अनिवार्य हों। बालिकायें पृथक अभ्यास करें।

कुल में दूध, घी, मक्खन व फल इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न किये जावें कि किसी भी स्त्री को अपनी संतान व पति के लिये किसी वस्तु को चुराने की कुप्रवृत्ति उत्पन्न न हो सके। आर्षकुल में वानप्रस्थ, गृहस्थ स्त्री पुरुषों को व बालक बालिकाओं को कुल की आय (दूध, घी, मक्खन, फल की उत्पत्ति) के अन्तर्गत ही प्रविष्ट किया जावे जिससे कष्ट न हो।

रक्षण और सम्पत्ति

इस गुरुकुल का रक्षण ५ मनुष्यों की एक सभा द्वारा हो। उक्त सभा का कार्य केवल बाहरी रक्षा और पोषण हो। गुरुकुल में कर्ता धर्ता आचार्य व कुलपति हों। उक्त ५ मनुष्यों में ४ वे व्यक्ति हों जो अपनी एक सन्तान गुरुकुल को दान दे चुके हों। आर्य संसार का सब से बड़ा संन्यासी ही उक्त गुरुकुल का नियन्त्रण करने पावे, शेष ४ मनुष्यों में किसी को गुरुकुल के सम्बन्ध में कोई संशोधन पेश करने का अधिकार तक न हो। यह सभा ही इस गुरुकुल की सम्पत्ति की मालिक हो। अथवा कोई आर्य प्रतिनिधि सभा इस सम्पत्ति की तब मालिक हो, जब किसी कारणवश गुरुकुल बंद हो, तब यह प्रतिनिधि-सभा इस गुरुकुल की सम्पत्ति की मालिक हो, इससे पूर्व यह प्रतिनिधि सभा उक्त गुरुकुल की किसी व्यवस्था में कुछ भी हस्तक्षेप न कर सकेगी

प्रबन्धकारिणी सभा के ४ सदस्य अपनी ४५ वर्ष की आयु होते ही वानप्रस्थ बनकर उक्त गुरुकुल में आ जावेंगे यदि वे न आवें तो सभा से च्युत रहें।

दण्ड और प्रायश्चित

बालकों को दण्ड न दिया जावे। दण्ड के लिये कोई युक्ति ऐसी सोची जावे जिससे भय निर्मूल हो। जो कुलवासी नियम उल्लंघन करें वे निष्कपट होकर कुलपति से कहें तथा प्रायश्चित करें। २ दिन से लेकर १ सप्ताह तथा इससे भी अधिक काल के लिये उपवास करें।

कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसकी संतान गुरुकुल में पढ़ने योग्य अर्थात् गुरुकुल के नियमों में ठीक आयु की हो और वह व्यक्ति अपनी सन्तान को गुरुकुल में न पढ़ावे, गुरुकुल में न रहने पावे।

गुरुकुल गवर्नमेन्ट से सर्वथा उदासीन रहे। मानों गुरुकुल की भूमिमें वे स्वयं राजा हैं।

जो मनुष्य यम नियमों को तथा पञ्च यज्ञों को श्रद्धा से मानता हो तथा इनका सच्चे हृदय से पालन करने को उद्यत हो वह ही इस गुरुकुल में रहे, चाहे वह आर्य समाजी न भी हो। आस्तिक होना अनिवार्य है।

(ग) ग्राम प्रचारक आर्य–भिक्षु संघ

राष्ट्र (Nation or Government) ही ऐसा समुदाय है जिस पर देश के निवासियों की सब व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व निर्भर होता है। यह समुदाय धन, शक्ति समपन्न होने के कारण सब प्रकार की उपयोगी व्यवस्थाओं को प्रगतिशील बना सकता है। राष्ट्रेतर समुदाय

अपने परिमित लक्ष्य को लेकर कार्यरत होते हैं। यद्यपि उपयोगी कार्य अनेक होते हैं किन्तु प्रत्येक समाज, समिति अपने निर्धारित उद्देश्य को लेकर ही कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होती है और अपनी वृद्धि के अनुसार अपने कार्यक्रम को विस्तीर्ण करती रहती है। यद्यपि आर्य समाज का उद्देश्य व कर्तव्य भी सब प्रकार की उपयोगिताओं को सफल बनाना है किन्तु उसका सर्व प्रथम, सर्व श्रेष्ट लक्ष्य है वैदिक संस्कृति की स्थापना, उस संस्कृति की स्थापना, जिसकी रूप रेखा ही यम और नियम हैं; उस जीवन चर्या क स्थापना जो आदि, अन्त तथा मध्य में प्राकृत है; उस धर्म का प्रचलन कराना जो प्राकृत तथा वैज्ञानिक विश्लेषण का निर्भ्रान्त परिणाम है। इस महान कार्यक्रम के प्रचलन के लिये आर्य समाज ने वेतन भोगी उपदेशक रक्खे, गुरुकुल, स्कूल और कालेज खोले, यतीम खानों की स्थापना की, वनिता आश्रम व स्त्री-समाजें बना डालीं। इस भीमकाय आडम्बर, अति द्रव्य-भक्षी शरीर से केवल "विचार" का ही प्रसार हो सका। पंच यज्ञ यम, नियमों की स्थापना रूढ़ भी न हो सकी। अब तक का प्रचार "चाहिये" का ही हुआ, "अस्ति" का नहीं। "कर्तव्य" "अस्ति" को प्राप्त न कर सका। "कर्तव्य" एक विश्लेषण है किन्तु "स्थापना" उसका वास्तविक प्रभाव है जिसके बिना "कर्तव्य" दार्शनिक तथा वैज्ञानिक होते हुये भी लाभप्रद नहीं।

गुरुकुलों ने कभी गारण्टी की थी कि वे गोत्तम, कणाद उत्पन्न करेंगे और इसी महती आशा व लोभ के वशीभूत होकर आर्य—जनता ने अपनी शक्ति से कहीं अधिक सम्पत्ति गुरुकुल के चरणों पर रखदी किन्तु गुरुकुल वृक्षों के फलों ने अपने परिचय, कार्यक्रम व जीवन से प्रमाणित कर दिया कि वे अपने तईं निरापद काल में भी यम, नियम

तथा पंच यज्ञ की एकान्त मूर्ति नहीं हैं। उनका अपना जीवन इतना मितव्ययी भी नहीं है कि वे भारत की, विशेष कर आर्य-समाज की परिमित, अल्प शक्ति में निर्वाह कर सकें जैसा कि नियमित आर्ष शिक्षा से वंचित प० लेखराम जी जैसे पुलिस के सिपाही ने कर दिखाया। उनके मन में वेद प्रचार की उत्कट लगन तो क्या साधारण प्रचार प्रवृति भी नहीं हैं। यथाशक्ति वे इस अरुचिकर कार्य से बचना चाहते हैं।

आर्य-जनता जानती न थी कि यौवन वेद प्रचारके लिये उपयुक्त समय नहीं है और गुरुकुलों के संचालक अपने मठों की ममतासे इस रहस्य को खोल न सकते थे। गुरुकुलों की आवश्यकता, तो थी इस लिये कि आर्यों की संतान वास्तविक गृहस्थ बन कर अपने गुण, स्वभाव व रुचि के अनुसार कार्य चुनती और गृहस्थ जीवन बिताती किन्तु जब यम, व पच यज्ञ निष्ठ वस्तु भी गुरुकुल कारखाने में न बन सकी और जनता में आलोचना होने लगी तब स्वार्थ व कपट धर्म का नया आवरण पहन कर जनता में तर्क व वाकपटुता से समाधान करने लगे जिसके फल स्वरूप गुरुकुलों व कालेजों के साथ आयुर्वेदिक शाखायें भी बना डाली गई ताकि युवक-वैद्य चिकित्सा द्वारा वेद प्रचार करें।

"हमारे आर्य्य स्कूल और कालेज" "तथा हमारे वेतन भोगी कुल गुरु" शीर्षक लेखों में हम इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं कि ये संस्थायें अप्राकृत तथा संकर नीति के कारण प्राकृत गृहस्थ बनाने में भी असफल हो चुकी हैं अतः इन से भी आर्य-जीवन-रत गृहस्थ नहीं बन सकते थे क्योंकि यह ढांचा भी उसी विकृत-मूर्ति का शाखा-पुत्र है। अब रही वैद्य-प्रचारक की कल्पना—जीवनी की बात!

सो वह इस प्रकार है—जो वैद्य इन आयुर्वैदिक शाखाओं से निकलते हैं उनमें ६० फ़ी सदी अपने निजू औषधालय अथवा फ़ार्मेसी चलाने की जोड़ तोड़ लगाते हैं। अतः इस संख्या से आर्य समाज के मुख्य सर्व प्रथम, मौलिक तथा श्रेष्ठ कार्य "वेद प्रचार" को कोई लाभ नहीं। यदि कुछ है भी तो वह उस द्रव्य की अपेक्षा जो इस बड़े समुदाय पर व्यय किया गया है नगण्य है। हां, आर्यसमाज ने अपने कारखानों से कुछ वैद्य मूर्तियों को तैयार जरूर कर दिया। यह लाभ वैसा ही है जैसा किसी खत्री का बनिये की दुकान से सामान न खरीद कर किसी खत्रीको ही दुकान से क्रय करना। वेद प्रचार को, जिसके लिये आर्य समाज का अस्तित्व है, इस से क्या लाभ ?

उपरोक्त वैद्यों में से शेष १० फी सदी नौकरी ढूंढते हैं। सम्भवतः प्रत्येक युवक विवाह करता है अतः स्त्री, सन्तान, गृहस्थ के सुख तथा सुकुमार भोगों के लिये धन की आवश्यकता होती है। ऐसे युवक वैद्य को कम से कम ४०) मासिक वेतन मिलना ही चाहिये, क्योंकि शरोर व ज्ञानेन्द्रियों का यौवन उस से काफी रसिक व पोषक खुराक मांगता है। उस की वेतन वृद्धि होने का क्रम बंधना चाहिये क्योंकि गृहस्थ में पत्नो का शरीर व ज्ञानेन्द्रियों का यौवन, सन्तान वृद्धि व उसका पालन पोषण पग-पग पर पैसा मांगेंगे। खर्च स्वभावतः बढ़ेगा जिसकी पूर्ति के लिये वह आय वृद्धि करने को लालायित रहेगा।

स्त्री—सन्तान की भावो चिन्ता, गृहस्थ के लिये उपयुक्त सम्पत्ति से ममता आर्यवैद्य को परिग्रह (धन संग्रह, पूंजीवाद) की ओर अग्रसर करेंगी। वह वेतन वृद्धि चाहेगा, गृह-सम्पत्ति व मकानादि

के लिये जोड़-तोड़ लगायेगा, पुत्र पौत्र के विवाहादि के लिये धन बटोरेगा, तत्पश्चात् पेन्शन चाहेगा। इस प्रकार निन्नानवे के फेर में पड़ कर वह धन का उपासक बन बैठेगा। यदि ऐसा युवक वैद्य किसी ऐसे चिकित्सालय में नियुक्त हो गया, जिस का उद्देश्य चिकित्सा द्वारा वेद-प्रचार करना है तो वहां वह अपने को कुशल व विख्यात चिकित्सक बना कर धन बटोरने व भविष्य के लिये ख्याति प्राप्त करने में ही अग्रसर होगा, पेन्शन लेकर अपनी सन्तान को सफल सम्पत्तिशाली बनाने के लिये अपना निज औषधालय वा फार्मेसी खोलेगा। इस प्रकार हमारे गुरुकुल व कालेजों को आयुर्वैदिक शाखायें इन युवकों के द्वारा वेदप्रचार में तो सफल न होंगी अलबत्ता कुछ युवकों को इस योग्य बना देगी कि वे अपनी आजीविका उपार्जन कर सकें और ऐसी दशा में जनता से वेदप्रचार के लिये इकट्ठा किया हुआ धन कुछ युवकों को 'बारोजगार' बनाने में ही खपता रहेगा। वेदप्रचार समस्या फिर आलोचना का विषय बनेगी और गुरुकुलों के प्रति दूसरा निराशावाद खड़ा हो जायगा जिससे बचने लिये के सरलतम मार्ग यही हो सकता है कि गुरुकुल आर्यसमाज व आर्यजनता को खुली चेतावनी दे देवें कि उसका दृष्टिकोण बालकों को साक्षर करना है, आर्य समाज के वेदप्रचार को पोषण करना नहीं।

अधिक व्यय

इन युवक वैद्यों को नियुक्त करके चिकित्सा द्वारा वेदप्रचार करने वाले चिकित्सालय को भी इनके वेतन पर काफी धन बहाना पड़ेगा या वे चिकित्सालय अपनी अल्प राशि के परिमित धन से अधिक चिकित्सा केन्द्र स्थापित न कर सकेंगे। तब कौनसा साधन उपयोग

में लाया जाना चाहिये कि जिस से अधिक चिकित्सा केन्द्र कम से कम धन से देहात में स्थापित होकर वेद प्रचार का वास्तविक कार्य मूर्त होने लगे ? वेद प्रचार के लिये युवक अन्यथा सिद्ध होने पर भी उपयुक्त व्यक्ति नहीं है। चिकित्सालयों में तो वही चिकित्सक सफल वेद प्रचारक हो सकता है जिसे न धन की आवश्यकता हो, न धन का लालच। अतः आवश्यकता है ऐसे आयुर्वेद महाविद्यालय को जो 'आर्य भिक्षुओं' को ५ वर्ष में योग्य चिकित्सक व उपदेशक बनादे।

"आर्य-भिक्षु-संघ" की स्थापना का आधार हो 'भिक्षु-आयुर्वैदिक महाविद्यालय हो, जहां निम्न प्रकार के व्यक्ति दीक्षित किये जावें:—

(१) ३५ वर्ष से अधिक व ४० वर्ष से कम जिनकी आयु है। (२) जिनके स्त्री पुत्रादि कुछ नहीं हैं, केवल अपने ही निर्वाह का बोझ जिनके ऊपर है। (३) जिन्होंने अपनी सब स्थिर व अस्थिर सम्पत्ति इस "भिक्षु-संघ" को दान करदी है। ऐसे नवदीक्षित भिक्षु संघ के आयुर्वैदिक महाविद्यालय मे अपनी योग्यता के अनुसार चिकित्सक (वैद्य और सर्जन) तथा संयोजक (कम्पाउण्डर) का कार्य सीखें। ५ वर्ष में इन्हें आयुर्वैदिक शिक्षा के साथ साथ आर्य सिद्धान्त व ग्राम प्रचार नीति की भी शिक्षा दी जावे। इस प्रकार चिकित्सक व उपदेशक बन कर ये भिक्षु किसी परगने के बड़े ग्राम में "आर्य-भिक्षु-आश्रम" वा "दयानन्द-भिक्षु-सदन" बना कर रहें।

कार्यक्रम

(१) अपने अपने केन्द्र (परगन) के रोगियों की चिकित्सा करना। (२) सरल, सच्चे, सीधे आर्य जीवन का प्रचार करना। (३) खण्डन की फक्किकाओं में न उलझना। (४) ग्रामीणों की सामाजिक कुरीतियों को

दूर करके नैतिक जीवन का निर्माण करना। (५) स्वास्थ्य साधना को स्वर्ग प्राप्ति का पुण्य कर्म बता कर ग्रामीणों का व्यसन बनाना तथा उनमें इस बात की श्रद्धा उत्पन्न करा देना कि स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करना घोर पाप है जो इसी जन्म में नरक यातना भुगतवाता है। (६) अपने निर्वाह के लिये गो पालन तथा भिक्षा। (७) मजहबी रूढ़ियों की अन्ध श्रद्धा को दूर करके उनके अनुयाइयों में ही उनके विरुद्ध क्रान्ति उत्पन्न करके उन रूढ़ियों को मिटाना जैसे रामलीला व ताजिये आदि। (८) मन्दिर व मसजिद आदि के ममता, मोह को जनता के हृदय से दूर करना जिससे ग्रामीण हिन्दु मुसलमान सच्चे सरल ईमानदार "हिन्दुस्तानी" बन प्रेम से रहना सीखें और 'काफिर' व 'म्लेच्छ' के घृणास्पद भाव लुप्त हो जावें। (९) जनता के हृदयों पर इस बात को अंकित कराना कि "ईश्वर की प्रार्थना व उपासना के सर्वोत्तम प्राकृत सुलभ स्थान हैं अपने घर में एकान्त स्थान तथा सुदूर नीरवता। ईश्वर के घर के नाम से मुश्तहिर मन्दिर व मस्जिद आदि मनुष्य जाति के नासमझ बच्चों में बैर, ईर्षा व हत्याकाण्ड को फैलाने वाले शैतान के कारखाने हैं जिनकी हत्या वेदी पर भगवान का नाम कलंकित व उसकी सन्तान का रक्तपात किया जारहा है। (१०) भिक्षु स्वयं यज्ञशाला मन्दिर बना कर खुद भी नये सम्प्रदाय की सृष्टि न करें।

जहां नियमित रूप से चिकित्सालय बनें (जहां रोगियों के भोजनादि का भी प्रबन्ध भिक्षु चिकित्सालय को ओर से हो) वहां भिक्षु-वैद्य कुछ जेब-खर्च व भोजन वस्त्र पर कार्य करें किन्तु भिक्षा मांग कर लाना भी इन भिक्षु चिकित्सकों का नित्य-नियम होना चाहिये ताकि इन में निरभिमान पर सेवा, समदर्शिता की उच्च विभूति बनी रहे और

गृहस्थ परिवारों में श्रद्धा का श्रोत बहता रहे। भिक्षाम्न चिकित्सालय में रोगियों व चिकित्सकों के काम आवे। इन चिकित्सालयों में चपरासी तक अवैतनिक भिक्षु हों किन्तु भिक्षा-संग्रह का कार्य सब के लिये अनिवार्य हो, केवल नामधारी 'भिक्षु' न हों। जिस प्रकार बिना हवन के आर्य समाज का कोई उत्सव आरम्भ नहीं होता उसी प्रकार बिना भिक्षा के किसी भिक्षु का सूर्यास्त न होने पावे। आर्य समाजियों के कर्तव्यहीन विचार स्वातन्त्र की अपेक्षा भिक्षु-संघ की भिक्षा प्रथा का रूढ़ हो जाना हम कहीं अच्छा समझते हैं अन्यथा 'भिक्षु' शब्द का दुरुपयोग ही होगा।

अन्तिम शब्द।

यूनीवर्सिटी तथा कालेजों का दृष्टिकोण गुरुकुलों से सर्वथा भिन्न है। अत: गुरुकुलों के लिये कालेज के पद चिन्हों पर चलना उनकी सफलता नहीं समझा जा सकता "शिक्षा समस्या" में पाठकों ने देखा होगा कि मानव जीवन की जिस प्रगति का नाम "शिक्षा' हो सकता है, वह बहुसंख्यक गुरु गण से सिद्ध नहीं हो सकती। बड़ी २ भोजन शालायें बड़ी राशि में भोजन पका कर तैयार कर सकती हैं किन्तु वे उस भोजन में उस स्नेह मिश्रित पोषक शक्ति को नहीं प्रविष्ट करा सकतीं जो माता, भगिनी व भार्या के बनाये भोजन में प्राकृत रूप से मौजूद रहती है। यही स्नेह मिश्रित-पोषक-शक्ति भोजन का वास्तविक तत्व है। ठीक इसी प्रकार गुरु के स्नेह द्वारा अंकित आध्यात्मिक छाप शिक्षा का मुख्य तत्व है। सैंकड़ों विद्यार्थियों को रेडियो रिसीवर के व्याख्यान की तरह वक्तृता देने वाले गुरु इसी छाप को अंकित नहीं कर सकते। ये गुरु दस्तकारी के हुनुर की तरह अपनी कला को बेच और शिल्प क्रय कर सकते हैं।

विश्वविद्यालय आधुनिक शब्द है। प्राचीन काल में विश्वविद्यालय नाम की वा इस रीति की शिक्षा पद्धति वा शिक्षा संस्था न होती थी। जिस तक्षशिला को बौद्ध यूनिवर्सिटी के नाम से घोषित किया जाता है वह बनारस के संस्कृत शिक्षा केन्द्र से भिन्न न थी जहां भिन्न भिन्न दर्शनों के पण्डित अपने इने गिने शिष्यों को पारिवारिक रूप में पढ़ाते

थे। उन शिष्यों के पार्श्व में गुरु पुत्र व गुरु कन्यायें भी होती थीं।

सुघर और शिक्षिता स्त्री के लिये भी तीन बालकों से अधिक का पालन पोषण कठिन हो जाता है वह शिकायत करने लगती है कि वह उन बालकों के देख रेख की ही हो रही। किन्तु गुरुकुलों में एक अध्यापक छः घन्टे पढ़ा भी लेता है, अपनी स्त्री व बच्चों के पालन पोषण का प्रबन्ध भी करता है और इन सब कार्यों को करता हुआ ४० बालक ब्रह्मचारियों के पालन पोषण का कार्य भी कर डालता है। २० जुलाहे जितना कपड़ा बुनते हैं क्लाथ मिल का एक बुनकर ४ लूमों पर उतना कपड़ा बुन डालता है। गुरुकुलों में ऐसा कोई महायन्त्र भी नहीं है जिसकी सहायता से एक अध्यापक छः घन्टे अध्यापन का कार्य कर के भी २० सुघर व शिक्षिता माताओं के कार्य को कर डालता हो। तब वह ४० बालकों का पालन पोषण नहीं प्रत्युत "बकरी चराई" होती है।

हम गुरुकुलों में इस त्रुटि को अनुभव करते हैं कि १० वर्ष की आयु तक के बालक "गुरु माता" के करुणा हस्त की शीतल छाया की आवश्यकता अनुभव करते हैं, जिसके बिना वे एक शासक-अध्यापक के कठोर हुक्मों में पलते हैं। इसीलिये मैंने अपनी योजना में १० वर्ष तक की आयु वाले बालक बालिकाओं की सह-शिक्षा (Co-education) को स्थान दिया है और उन १०० बालकों के शिक्षण, पालन व पोषण के लिये २० पुरुष व २५ स्त्रियों से कम व्यक्तियों को उपयुक्त नहीं समझा।

कुछ व्यक्ति मेरी इस सह-शिक्षा योजना पर आपत्ति कर सकते हैं क्यों कि आजकल कालेजों में सह-शिक्षा के फल विषाक्त प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु मेरी सह-शिक्षा योजना में विशेष अन्तर है। प्रथम तो यह १० वर्ष

के बालक बालिकाओं पर ही समाप्त हो जाती है। दूसरे इस योजना में वेश भूषा तथा खान पान इतना सौम्य रखा गया है कि १० वर्ष तक के बालकों में अध्ययन काल में (क्योंकि शयन स्थान बालिकाओं का प्रथक रखा गया है) किसी कुभावना की आशंका नहीं. रही नियम शिथिल करने की बात सो इसका कोई नियन्त्रण नहीं। नियम का शिथिल करना ही दुष्कर्म को निमन्त्रण देना है। हम अपनी बालिका भगिनी और पुत्री का चुम्बन करते हैं किन्तु उसकी आयु का एक भाग ऐसा आ जाता है जब चुम्बन बन्द कर दिया जाता है। मनु के विधान में युवक शिष्य के लिये युवती गुरुपत्नी के चरण छूकर अभिवादन करना वर्जित है। यदि यह नियम शिथिल किया जाय तो वह चरण छूकर अभिवादन कर सकता है, नियम के और शिथिल होने पर गुरुपत्नी के घुटने तथा अन्य अंग भी स्पर्श किये जा सकते हैं। अतः नियमों की शिथिलता हो जाने पर हम किसी भी दुष्कर्म से नहीं बच सकते। अतः १० वर्ष से अधिक आयु वाले बालक बालिकाओं के गुरुकुल पृथक ही होने चाहियें।

"आर्ष कुल की रूप रेखा" को पढ़ कर हमारी इस योजना में अनेक शंका हुई होंगी, किन्तु यदि पाठक मेरे पूर्व वक्तव्यों से संगति लगावेंगे तो उन्हें रूप-रेखा के प्रत्येक नियम के निर्माण का कारण उन वक्तव्यों में स्पष्ट मिलेगा। इस योजना का आधार है धर्म, प्राकृत जीवन तथा भारत की वर्तमान आर्थिक दशा, जिन पर विस्तारपूर्ण विवेचन किया जा चुका है।

कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः नियम का उद्देश्य ही उन कारणों को दूर करना होता है जो दुष्कर्म को उत्पन्न कर देते हैं। नियम की शिथिलता ही पाप का बीज है। फल से बीज बड़ा होता है।

इसी कारण मैंने इस योजना की रूप-रेखा में साधारण बात को भी बड़ा महत्व दिया है क्योंकि पाप व पुण्य में एक महव्य रेखा का ही अन्तर होता है। आर्ष कुल ही एक ऐसा केन्द्र हो सकता है जिसमें वैदिक धर्म की शिक्षा संस्था, अनाथालय, विधवा आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा गोशाला का समावेश हो सकता है। इसके बाद आवश्यकता पड़ती है "ग्राम प्रचारक आर्य-भिक्षु-संघ" को, जिसका आधार ही चिकित्सा है।

अब रहा हमारा वर्तमान "वेतन भोगी उपदेशक गृहस्थ सम्प्रदाय" और प्रकाशन। उत्तम तो यही है कि नागरिक आर्य संसार में, यदि उपदेशक नहीं तो कम से कम "पुरोहित" तो जरूर हो आर्य पद्धति के अनुसार अवैतनिक होकर सब आर्य गृहस्थों का श्रद्धा भाजन बना रहे। यदि यह अभीष्ट नहीं है तो इसे यथा-स्थिति घसीटा जावे।

"प्रकाशन" कार्य एकान्त आधुनिक है। अतः इसे आधुनिक रीति से ही चलता रहना चाहिये। अलबत्ता ढाई चावल की खिचड़ी अलग अलग न पका कर एक "विश्वार्य प्रकाशन भवन" होना चाहिये।

यह सब वक्तव्य उन महानुभावों के लिये हैं जिनके हाथों में संसार को आर्य बनाने का उत्तर दायित्व दिया गया है। यदि वे ही इस पर विचार न करेंगे तो और कौन करेगा।

॥ इति ॥

मनः स्वी पाठक वृन्द !

आर्य्य समाज किस ओर ?

के विचारशील लेखक और सम्पादक के विचार आप ने पढ़ लिये। कृपया निष्पक्षता के साथ बताइये कि हमें दूसरों को ऐबजोई, नुकताचीनी और 'उपदेश' तथा 'परोपकार' के स्थान पर आत्म चिन्तन, निज संशोधन और स्व निरीक्षण की आवश्यकता है या नहीं ? हमारा अनुमान ही नहीं वरन् विश्वास है कि अब हमें इसकी सर्व प्रथम और असाधारण तथा अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर हमने

"आर्य्य-जीवन-माला"

का आरम्भ किया है जिसकी यह पहली पुस्तक आप के हाथ में है। दूसरी पुस्तकें तय्यार हो रही हैं और उनमें आर्य्य समाज के सुधार तथा ऋषि दयानन्द के आदर्श और उद्देश्य की रक्षा के लिये प्रत्येक आवश्यक विषय पर, विभिन्न दृष्टियों से, निर्भयता स्पष्टता, और स्वतन्त्रता के साथ पार्टी स्प्रिट से सर्वथा दूर रह कर और एक मात्र सुधार को ही लक्ष्य में रख कर विचार किया जायगा।

निम्न विषयों पर विस्तार से विचार किया और लिखा जा रहा है:—

१—ऋषि दयानन्द का उद्देश्य और आदर्श।

२—आर्य्य समाज का भूत, भविष्य और वर्तमान—सिंहावलोकन।

३—आर्य्य समाज का नैतिक पतन।

४—कृतघ्न आर्य्य समाज।

५—हमारे आचार, व्यवहार। मन्तव्य, वक्तव्य और कर्त्तव्य।

३४—वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की मिट्टी ख़राब।

३५—हमारा दलितोद्धार। ३६—धन की पूजा।

३७—पद लोलुप्ता—अधिकार मद। ३८—ढोल की पोल।

३९—नीरस और प्रभाव शून्य साप्ताहिक अधिवेशन।

४०—अनुदार-संकुचित विचारक आर्य्य समाज।

४१—रसस्मी वर्षिकोत्सव।

४२—आर्य समाज की पार्टियां।

४३—हमारी दूषित दान प्रणाली-चंदे बाज़ी।

इत्यादि इत्यादि।

क्या आप किसी और भी आवश्यक विषय का निर्देश करेंगे?

क्या आप आर्य्य समाज के सुधार के लिये

अपने अनुभवपूर्ण, गम्भीर तथा प्रमाण युक्त विचार

निषपक्षता और साहस के साथ प्रगट करके

आने वाली सन्तान के पथ प्रदर्शक बनेंगे और उसे कृतार्थ होने का

अवसर प्रदान करेंगे?

आपके आदेशों तथा परामर्शों की प्रतीक्षा है।

विनीत—

द्वारिकाप्रसाद सेवक,

संचालक, **सरस्वती-सदन**

मसूरी (संयुक्त प्रान्त)

स्त्री–शिक्षा के प्रवर्तक, मातृ जाति के सेवक

कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के

संस्थापक

स्वर्गीय श्री देवराज जी

का सचित्र

जीवन परिचय

(मूल्य चार आना)

लेखक—श्री सत्य देव विद्यालङ्कार

भूमिका लेखक—

'सेकसरिया–पारितोषक' के प्रवर्तक

श्री सीता राम जी सेकसरिया

कर्मशील–जीवन का आदर्श अपने और अपनी सन्तान के सामने सदा बनाये रखने के लिये इसकी एक प्रति आप को अपने घर में ज़रूर रखनी चाहिये।

संचालक—

सरस्वती–सदन,

मसूरी (संयुक्त प्रान्त)

'श्रद्धानन्द-साहित्य' की

प्रस्तावित योजना :-



* निवेदन *

आशा है आप इस योजना को विशेष ध्यान से पढ़ेंगे। अपने इष्ट मित्रों को इसे सुनाने और पढ़ाने की कृपा भी करेंगे। यदि आप या आप के मित्र इस सम्बन्ध में कुछ अधिक जानना चाहें अथवा किसी प्रकार से कुछ सहयोग देना चाहें तो निम्नलिखित पते से पत्र-व्यवहार करें। आप के परामर्श, सूचना, सहायता और सहयोग की हमको नितान्त आवश्यकता है। हम उसका हार्दिक स्वागत करेंगे।

"अलङ्कार-बन्धु"
१६-२० चिरंजीलाल-बिल्डिंग्स
रोशनारा रोड (सब्जी मण्डी)
देहली।

—सत्यदेव विद्यालंकार

* ओ३म् *

'श्रद्धानन्द-साहित्य'

की

प्रस्तावित योजना

अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की जीवनी लिखते हुये मन में यह विचार पैदा हुआ था कि उनकी जीवनी को लेकर अभी बहुत-सा कार्य किया जा सकता है। यद्यपि प्रकाशकों ने उस जीवनी को 'पूर्ण, प्रामाणिक और विस्तृत' के विशेषणों के साथ प्रकाशित किया है और प्रायः सभी समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं तथा विद्वज्जनों ने उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना की है, तो भी उसकी अपूर्णता को दूर करके उसको सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिये उससे कहीं अधिक कार्य करने की आवश्यकता है। उस जीवनी की भूमिका में इस ओर संकेत किया गया था और आर्यसमाज को लक्ष्य करके उसमें कुछ पंक्तियां इस लिये लिखी गई थीं कि उस पर और उसके नाते आर्यसमाजियों पर

दिवंगत स्वामी जी का बहुत बड़ा ऋण है। उससे उऋण होने के लिये उनका यह कर्तव्य है कि वे हिन्दी-साहित्य में स्वामी जी के साहित्य को स्थिर बना कर उनके नाम को साहित्य के क्षेत्र में भी उसी प्रकार अमर बना दें, जिस प्रकार परम पुनीत बलिदान द्वारा इतिहास में उनका नाम अमर होगया है। आर्यसमाज ने महापुरुषों को जन्म देने की परम्परा को अपने प्रवर्तक त्रिकाल-दर्शी महर्षि दयानन्द सरस्वती से लेकर अब तक कायम रक्खा है, किन्तु यह बड़े आश्चर्य और दुःख का विषय है कि उनके जीवनी-साहित्य के निर्माण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है। राजा राममोहन राय, श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, देशबन्धु चितरंजन दास, स्वामी रामतीर्थ, परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द सरीखे महापुरुषों के जीवनी-साहित्य को लेकर जो महान् कार्य किया गया और किया जा रहा है, उसकी तुलना में आर्यसमाज या आर्यसमाजियों की ओर से महर्षि दयानन्द सरस्वती, विद्वद्वर्य पं० गुरुदत्त जी, आर्यपथिक पण्डित लेखराम जी, पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी, स्वर्गीय श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी और स्त्री-शिक्षा के प्रवर्तक श्री देवराज जी आदि के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है। ये सब महानुभाव आर्यसमाज के विधाताओं में सर्वाग्रणी हैं, किन्तु फिर भी उनका जीवनी-साहित्य पैदा करने की आवश्यकता अनु-

भव नहीं की गई है। न वैसे साहित्य की आर्य जनता की ओर से इतनी अधिक मांग है और न आर्यसमाजी प्रकाशकों तथा लेखकों की उसके पैदा करने की ओर कुछ प्रवृत्ति है। भावी सन्तति में ज्ञान, उत्साह, स्फूर्ति, जागृति एवं चैतन्य पैदा करने वाले जीवनी-साहित्य की इस समय सब से अधिक आवश्यकता है। ऐसा ही साहित्य वीर-पूजा का निदर्शक है। जिस समाज अथवा जाति में अपने वीरों की पूजा, उनकी स्मृति की रक्षा और भावी सन्तति के सामने उनके आदर्श को उपस्थित करने का यत्न नहीं किया जाता, वह समाज या जाति जीवन के लिये आवश्यक स्फूर्ति के स्रोत को बंद करके जीवित रहने की आशा कैसे कर सकती है? अपने विधाताओं की अर्चना के लिये आवश्यक चिरस्थायी वीर-पूजा की ऐसी सामग्री के बिना आर्यसमाज के महोत्सवों की धूम-धाम धूप-दीप-नैवेद्य से खाली थाली हाथ में ले मन्दिर में आरती उतारने के समान है। वैदिक सिद्धान्तों और वैदिक ऋचाओं के अनुसार अपने जीवन में 'आर्यत्व' की प्रतिष्ठा करने वाले महापुरुषों की जीवनियों के साहित्य के बिना केवल सिद्धान्तों और ऋचाओं को लेकर लिखा गया साहित्य प्राण-शून्य देह और प्रकाशशून्य दीपक के सदृश है। इस लिये आर्य-समाज को ऐसे जीवनी-साहित्य को वैदिक-साहित्य का एक अंग मान कर वेद-प्रचार के समान ही उसके लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये। शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार, धार्मिक-जागृति,

अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दी-प्रसार, गुरुकुल-प्रणाली के पुनरुज्जीवन और वैदिक-साहित्य के अनुशीलन आदि के क्षेत्रों में आर्य-समाज ने जिस प्रकार पथप्रदर्शक का काम किया है, उसी प्रकार उसको ऐसे जीवनी-साहित्य के निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में भी अवश्य ही पथप्रदर्शक बनना चाहिये।

हिन्दी में जीवनी-साहित्य का भयावह अभाव है। कथा-कहानियों, उपन्यासों, प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम की पाठ्य पुस्तकों तथा पौराणिक धार्मिक-ग्रन्थों के समान सुन्दर, उपयोगी, शिक्षा-प्रद और मौलिक जीवनियां हिन्दी में प्रायः नहीं हैं। 'स्वामी-श्रद्धानन्द' ग्रन्थ की समालोचना करते हुए प्रायः सभी समाचार-पत्रों और मासिक पत्रिकाओं के सुयोग्य सम्पादकों ने हिन्दी के इस अभाव की विशेष रूप से चर्चा की है और दिवंगत स्वामी जी की जीवनी के समान अन्य महापुरुषों की जीवनियों के प्रकाशित करने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। हिन्दी-भाषा-भाषी जनता विशेषतः हिन्दी भाषा के विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे हिन्दी के इस अभाव की पूर्ति करने का उद्योग करें। जनता में यदि ऐसे साहित्य की मांग पैदा हो जाय, तो लेखकों और प्रकाशकों को अपनी विद्वत्ता, योग्यता, शक्ति तथा साधनों का उपयोग उसके पैदा करने के लिये अवश्य करना पड़े। इस प्रकार जनता का कर्तव्य इस सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट है। वह इतना सुगम है कि सहज में उसका पालन किया जा सकता है।

दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्द जी सरीखे महापुरुष युग-निर्माता होते हैं। वे किसी विशेष सन्देश को लेकर संसार में प्रगट हुआ करते है। उनका कार्य समाज, जाति, सम्प्रदाय आदि की संकुचित सीमा को पार कर सारे देश तथा समस्त राष्ट्र में व्याप जाता है और उसके साथ-साथ उनका व्यक्तित्व भी सर्वव्यापी बन जाता है। महापुरुषों की जीवनियां पराधीन राष्ट्र और पद-दलित देशवासियों में आशा का संचार कर उनको प्रगतिशील बनाने वाले प्रकाशस्तम्भों की शृंखला होती हैं। उस शृंखला में स्वामी जी का दिव्य जीवन सूर्य के समान चमकता दीख पड़ता है। कौन-सा ऐसा क्षेत्र है, जिसमें उन्होंने अपने अलौकिक त्याग, अदम्य साहस, कठोर तपस्या, निस्सीम धैर्य, महान् पुरुषार्थ, दृढ़ संकल्प, अटल विश्वास, एकनिष्ठ श्रद्धा और आदर्श आत्मोत्सर्ग का विलक्षण परिचय नहीं दिया है? विश्वबन्धु महात्मा गांधी के नेतृत्व में देशवासियों ने १६२० में अहिंसात्मक असहयोग के जिस कार्यक्रम को राजनीतिक दृष्टि से अपनाया था, उस सब को लगभग ३०—४० वर्ष पहले आप अपने दैनिक जीवन के साधारण व्यवहार में परिणत कर चुके थे। 'स्वदेशी' को आप सार्वजनिक जीवन में आने से पहले अपना चुके थे। 'वकालत' को सार्वजनिक जीवन के लिये आपने सन् १८६१ में बाधक समझना शुरू कर दिया था और उसके दो-चार वर्ष बाद उसको तिलांजलि भी दे डाली थी। सरकार से स्वतन्त्र, अपनी संस्कृति

पर अधिष्ठित, स्वावलम्बी राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात आपने १८८६ में किया था। स्त्री-शिक्षा के ही नहीं किन्तु स्त्रियोंकी जागृति के व्यापक क्षेत्र में चहुंमुखी क्रांति का यशस्वी कार्य करने वाली 'कन्या-महाविद्यालय' जालन्धर सरीखी आदर्श संस्था की स्थापना स्त्री-शिक्षा के प्रवर्तक स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री देवराज जी के साथ मिल कर तब की थी, जब कि स्त्री-शिक्षा की ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया था। फिर १८६६ में 'गुरुकुल-विश्वविद्यालय-कांगड़ी' की स्थापना कर उसको अपने एकाकी प्रयत्न द्वारा इतना सफल बना दिया कि ब्रिटिश-सरकार के भूत-पूर्व प्रधान-मन्त्री रैमसे मैकडानेल्ड तक ने उसका अवलोकन करने के बाद यह लिखा था कि "सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में लार्ड मैकाले के भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में सम्मति प्रगट करने के बाद उसके विरुद्ध यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहां तक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्था-पकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।" भारत की प्राचीनतम ब्रह्मचर्य-प्रधान गुरुकुल की राष्ट्रीय-शिक्षा-प्रणाली का पुनरुज्जीवन वास्तव में स्वामी जी का जीवन-कार्य है और भारतीय राष्ट्र को यही उनकी सब से बड़ी देन है। देश, जाति, राष्ट्र और समाज की गुरुकुल जो सेवा कर रह है, उससे स्वामी

जी के व्यापक व्यक्तित्व का कुछ आभास सहज में मिल जाता है। गुरुकुल की सम्पूर्ण शिक्षा का हिन्दी को माध्यम बना कर आपने १८९९ में हिन्दी को अपनाया था। फिर अपने पत्र 'सद्धर्म-प्रचारक' को, जो १७-१८ वर्षों से उर्दू में निकल रहा था, आपने १९०६ में एकाएक हिन्दी में निकालना शुरू कर दिया था। ऐसे हिन्दी-प्रेम के कारण आप १९०९ में भागलपुर में होने वाले अखिल-भारतवर्षीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के सम्मान से गौरवान्वित किये गये थे। शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी के अधिकार को स्थापित करने के साथ-साथ गुरुकुल ने भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वेद आदि के सम्बन्ध में भी सर्वसाधारण की मनोवृत्ति और विद्वानों के दृष्टिकोण को एकदम बदल दिया है। भारतीयता की दृष्टि से स्वामी जी का यह कार्य असाधारण है। राउलेट एक्ट के विरोध में देश में राजनीतिक-आन्दोलन के जोर पकड़ने और महात्मा गांधी के सत्याग्रह की घोषणा करने पर उसको धर्मयुद्ध और महात्मा जी को देश की प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मान आपने उसमें सम्मिलित होना अपना कर्तव्य समझा। देहली के सत्याग्रह-आन्दोलन की घटनाओं को कौन भूल सकता है? घन्टाघर के नीचे गुरखों की नंगी तनी हुई किरचों के सामने छाती तान कर खड़ा होना, जामा-मसजिद के मिम्बर पर से भाषण देना, शहीदों की शव-यात्रा के पचास-पचास हजार के

जलूसों का नेतृत्व करना, गोली चलने के बाद मशीनगनों से घिरी हुई लाखों की उत्तेजित जनता पर अंगुली के एक इशारे से नियन्त्रण रखना और देहली में राम-राज्य का सुनहरा दृश्य उपस्थित कर दिखाना — आपके दिव्य जीवन की कुछ ऐसी घटनायें हैं, जिनका उल्लेख देशके इतिहास में सुवर्णाक्षरों में किया जायगा। फिर मार्शल ला की अन्धी हकूमत की मार से मूर्च्छित पंजाब में प्राण-संचार कर अमृतसर में कांग्रेस के असम्भव प्रतीत होने वाले अधिवेशन को सम्भव कर दिखाने वाले पुरुषार्थ की कहानी कैसे भुलाई जा सकती है ? कांग्रेस के मंच पर से हिन्दी में दिया जाने वाला वह पहिला भाषण था, जिसकी ध्वनि श्रोताओं के कानों में और प्रतिध्वनि देश के कोने-कोने में आज भी गूंज रही है और सदा गूंजती रहेगी। त्याग, तपस्या, चरित्र-निर्माण, स्वावलम्बी राष्ट्रीय शिक्षण, स्वदेशी-भाव-भाषा तथा सभ्यता और सब से बढ़ कर अस्पृश्यता-निवारण की आवश्यकता पर उस भाषण में कांग्रेस के ऊंचे आसन से सब से पहिली बार प्रकाश डाला गया था। वह मौलिक-भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सचाई का नमूना था। स्वामी जी के व्यक्तित्व की छाप उस पर आदि से अन्त तक लगी हुई थी। असहयोग आन्दोलन के शुरू होने पर गुरुकुल एवं आर्यसमाज के कार्य से अलग हो और महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के साथ हुए मतभेद को सर्वथा भुला आपने फिर राजनीतिक क्षेत्र में

किया और सिक्खों के गुरुका बाग के सत्याग्रह के जेल की कठोर यातना को उस वृद्धावस्था में स्वीकार किया, जिसमें मनुष्य एकान्त जीवन बिता कर केवल विश्राम करने का विचार किया करता है। उस समय गुरुकुल की प्रबन्ध-कर्तृ-सभा 'आर्य प्रतिनिधि-सभा-पंजाब' के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को आपने जो पत्र लिखा था, उससे मातृभूमि के उन्नत भविष्य में आपके दृढ़ विश्वास और देश की स्वतन्त्रता के लिये आपकी उग्रतम आकांक्षा का कुछ परिचय मिलता है। पर, आपकी यह धारणा थी कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिये बारह मास की अवधि नियत करना और पैंतीस करोड़ के लिये अहिंसात्मक रहने की कठोर शर्त लगाना उचित नहीं है। देश को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिये विधायक-कार्यक्रम तथा असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार की बिना किसी शर्त के वैसे ही नितान्त आवश्यकता है और कांग्रेस के सत्याग्रही दल में सम्मिलित न होने वालों के अहिंसात्मक रहने की जिम्मेवारी अपने सिर पर लेने की आवश्यकता कांग्रेस को नहीं है। कुछ इस मतभेद के और कुछ असहयोग-आन्दोलन के मंद पड़ने के कारण आपने अपने को एकान्त-भाव से अछूतोद्धार के कार्य में तन्मय कर दिया। देहली के चारों ओर बसे हुए 'अस्पृश्य' कहे जाने वाले लोगों को कांग्रेस के प्रतिकूल बरगलाया जा रहा था और उनमें अमन-सभा का जोरदार प्रचार किया जा रहा था। उसका विरोध कर

आपने दलितोद्धार-सभा का जाल चारों ओर बिछा। देहली से बम्बई, बम्बई से मद्रास, मद्रास से कलकत्ता, कलकत्ता से देहली के कई दौरे किये और कार्यकर्ताओं का जाल मद्रास के सुदूर प्रदेशों तक में फैला दिया। अस्पृश्यता निवारण की समस्या को लेकर कांग्रेस से निराश हो, जब आप 'हिन्दू-महासभा' की ओर झुके तो उसमें ऐसा प्राण-संचार किया कि 'शुद्धि-संगठन' को भारत-व्यापी आन्दोलन बना दिया। अन्त में, ७२ वर्ष की वृद्धावस्था में, बीमारियों से जीर्ण-शीर्ण स्वास्थ्य होने पर भी अन्तिम सांस तक कर्मशील जीवन बिताते हुए छाती पर गोलियां खा कर महान् बलिदान का जो अपूर्व दृश्य उपस्थित किया, वह योद्धा-सन्यासी के दिव्य जीवन की स्फूर्तिदायक कहानी से भी कहीं अधिक दिव्य और स्फूर्तिदायक है।

निश्चय ही ऐसा सर्वव्यापी चहुंमुखी जीवन सारे राष्ट्र की सम्पत्ति है। कुल, परिवार, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, समाज और प्रान्त की संकुचित सीमा के दायरे में उसको बन्द नहीं किया जा सकता। भावी संतति में आशा, उत्साह, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान, स्फुर्ति, महत्वाकांक्षा और राष्ट्रीयता आदि सद्गुण पैदा करने के लिये ऐसे दिव्य जीवन का आदर्श उपस्थित करना हर एक राष्ट्रवासी का कर्तव्य है। 'साहित्य' उस का प्रधान-साधन है। हिन्दी-साहित्य में अमर-शहीद दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की स्मृति-रक्षा को स्थिर बनाने के

रही है। हमारा यह विचार है कि गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालय के आगामी वार्षिकोत्सव तक देशवासियों के विचारों का इस सम्बन्ध में हम संग्रह करेंगे। स्वामी जी के व्यक्तित्व के गौरव को जानने और समझने वाले महानुभावों के उत्साह की हम परीक्षा करेंगे। उनके अनुयायियों और भक्तों की इच्छा और आकांक्षा को हम परखेंगे। इस महान् योजना के लिये आवश्यक खर्च के पूरा करने की सम्भावना का पता लगायेंगे। इसके लिये आवश्यक अन्य सामग्री तथा साधनों की हम जांच-पड़ताल करेंगे। सारांश यह है कि उसके लिए प्रारम्भिक तैयारी में हमने अपने को लगाने का अंतिम और दृढ़ निश्चय कर लिया है। अब उसकी पूर्ति देशवासियों के उत्साहपूर्ण सहयोग, स्वामी जी के प्रेमी जनों की उदारतापूर्ण सहायता और गुरुजनों तथा वृद्धजनों के कृपापूर्ण आशीर्वाद पर निर्भर करती है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का सम्पूर्ण जीवन एक 'मिशन' था, जिस की देश को उनके बाद और भी अधिक आवश्यकता है। उस 'मिशन' को साहित्यिक दृष्टि से जीवित बनाकर सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने की भावना से, दो-ढाई वर्ष के लम्बे विचार के बाद,